फरवरी 2023

रंग संवाद

रबीन्द्रनाथ टैगोर विश्व कला एवं संस्कृति केन्द्र की
संवाद पत्रिका

परम्परा, प्रयोग और नवाचार

टैगोर विश्व कला एवं संस्कृति केन्द्र

रबीन्द्रनाथ टैगोर विश्वविद्यालय, भोपाल

शिक्षा तथा संस्कृति की परस्परता का रचनात्मक उपक्रम

अवधारणा, परिदृश्य और उद्देश्य

नई छात्र पीढ़ी में विज्ञान और तकनीकी शिक्षा के साथ संस्कृति, कला तथा साहित्य के प्रति जिज्ञासा, अभिरूचि, सृजन और संस्कारशील व्यक्तित्व गढ़ने के उद्देश्य से रवीन्द्रनाथ टैगोर विश्वकला एवं संस्कृति केन्द्र की स्थापना की गई है।

अपनी सक्रियता के चलते इस केन्द्र ने अध्ययन, शोध और प्रदर्शनकारी गतिविधियों के माध्यम से विश्वविद्यालय में अध्ययनरत छात्र-छात्राओं तथा विभिन्न विधाओं के अंतर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त सर्जकों और विशेषज्ञों के बीच नवोन्मेषी रचनात्मक परिवेश तैयार किया है।

यह केन्द्र रवीन्द्रनाथ टैगोर विश्वविद्यालय, भोपाल, डॉ. सी. वी. रामन विश्वविद्यालय, बिलासपुर, खंडवा और पटना तथा आईसेक्ट विश्वविद्यालय हजारीबाग में समान रूप से संचालित है। भोपाल इसकी केन्द्रीय इकाई है।

विभिन्न ललित कलाओं, संस्कृति और साहित्य के विभिन्न पक्षों को अपनी गतिविधियों के दायरे में रखते हुए यह केन्द्र आंचलिक प्रस्तुतियों के अलावा शोध, विमर्श, संवाद, सृजन-शिविर, कार्यशालाओं, पुस्तक लोकार्पण, व्याख्यान, संपादन, अनुवाद और दस्तावेज़ीकरण की दिशाओं में सक्रिय है।

स्थानीय, प्रादेशिक, राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय महत्व के अनेक आयोजनों ने सकारात्मक परिवेश तैयार किया है। इस केन्द्र की सक्रियता को साहित्य, ललित कलाओं और रंगमंच की श्रेणियों में देखा जा सकता है।

अपनी प्रवृत्तियों और उद्देश्यों के साथ टैगोर विश्वकला एवं संस्कृति केन्द्र बहुलता की संस्कृति का आदर करते हुए सौहार्द और समन्वय की पुनर्स्थापना के लिए कृत संकल्प है।

संपर्क

भोपाल-चिकलोद रोड, बंगरसिया चौराहे के पास, भोपाल, फोन : 0755-2700400, 2700404, मो. 9826392428

ई-मेल : tagorekala9@gmail.com, vinay.srujan@gmail.com

रंग संवाद

फेडरेशन ऑफ इंडियन पब्लिशर्स, दिल्ली द्वारा श्रेष्ठ प्रकाशन पुरस्कार से सम्मानित

फरवरी- 2023

टैगोर विश्व कला एवं संस्कृति केन्द्र

रबीन्द्रनाथ टैगोर विश्वविद्यालय की संवाद पत्रिका

प्रधान सम्पादक

संतोष चौबे

choubey@aisect.org

सम्पादक

विनय उपाध्याय

vinay.srujan@gmail.com

सम्पादन सहयोग

मुदित श्रीवास्तव

samvaad.mudit@gmail.com

शब्दांकन : **अमीन उद्दीन शेख**

सम्पादकीय संपर्क:

टैगोर विश्व कला एवं संस्कृति केन्द्र, ऋतुरंग प्रकोष्ठ

रबीन्द्रनाथ टैगोर विश्वविद्यालय

ग्राम मेंदुआ, पोस्ट-भोजपुर, बंगरसिया चौराहा के पास,

भोपाल-चिकलोद रोड, रायसेन-464993 मो. : 9074767948

• • •

मूल्य - 100/- रु. (एक अंक)

वार्षिक - 500/- रु. (डाक खर्च सहित)

त्रैवार्षिक - 1500/- रु. (डाक खर्च सहित)

बैंक खाता विवरण

'आईसेक्ट पब्लिकेशन'

खाता क्रमांक - 37730954601

IFSC कोड - SBIN0003867

शाखा - एसबीआई, महावीर नगर, भोपाल

टैगोर विश्व कला एवं संस्कृति केन्द्र, रबीन्द्रनाथ टैगोर विश्वविद्यालय, भोपाल द्वारा प्रकाशित

ई-मेल : **tagorekalabpl@gmail.com**

मुद्रक : आईसेक्ट पब्लिकेशन, सी-10, इंडस्ट्रियल एरिया, बगरोदा (भोपाल)

- परम्परा: अनुभव की प्रयोगशाला- श्याम सुन्दर दुबे/7
- कला: बन्धन से मुक्ति का उद्घोष- राजेश कुमार व्यास/10
- अमूर्त और अन्तर्मन- नरेन्द्र नागदेव/16
- देशज कलाओं का सच- निर्मला डोसी/19
- चित्रकला का लोकतंत्र- अशोक भौमिक/23
- परस्परता का लालित्य- नर्मदाप्रसाद उपाध्याय/28
- नित नई परम्परा- शंपा शाह/37
- प्रयोगों का पटल- पाँखुरी वक़्त जोशी/41
- नए मिज़ाज का नाटक- आलोक चटर्जी/48
- अनुभव के आलोक में कला- शाम्भवी शुक्ला मिश्रा/51
- सुर की कमर ना टूटे... बहुत नाज़ुक होती है- राजेश गनोदवाले/54
- नए पैरहन में साज़- स्वरांगी साने/59
- मौन में महक उठता है राग/64
  मूल रचना- वासुदेव मूर्ति, अनुवाद- स्नेहा कामरा
- खुली हवा में साँस लेता स्वर- मुकेश गर्ग/70
- प्रयोग के चेहरे पर परम्परा का नूर- विवेक सावरीकर मृदुल/72
- कविता: नृत्यांगना- हरिशचन्द्र पाण्डेय/75
- नए पंख, नई परवाज़- स्वरांगी साने/77
- अनन्त में गूँजता गान- विनय/81
- हर लोक गीत एक कहानी है/84
  लोक गायिका मालिनी अवस्थी से अनुलता राज नायर की मुलाक़ात
- समय में सिनेमा की तलाश- सुदीप सोहनी/93
- चालों उस देश में, जहाँ संगीत हो- संजय सिंह राठौर/97
- प्रेम की गुलाबी मोहर: भगोरिया- विनय उपाध्याय/99
- सुर यहाँ इबादत के फूल-सा महकता है/102
- विद्रोही छवियों का रंगपटल/105
- छ: नाटकों का एक नाटक- लोकमित्र गौतम/108
- संस्कार और नवाचार- आलोक सेठी/110
- भाव यात्राओं का सुख- शहजाद कुरैशी/118

इस बार

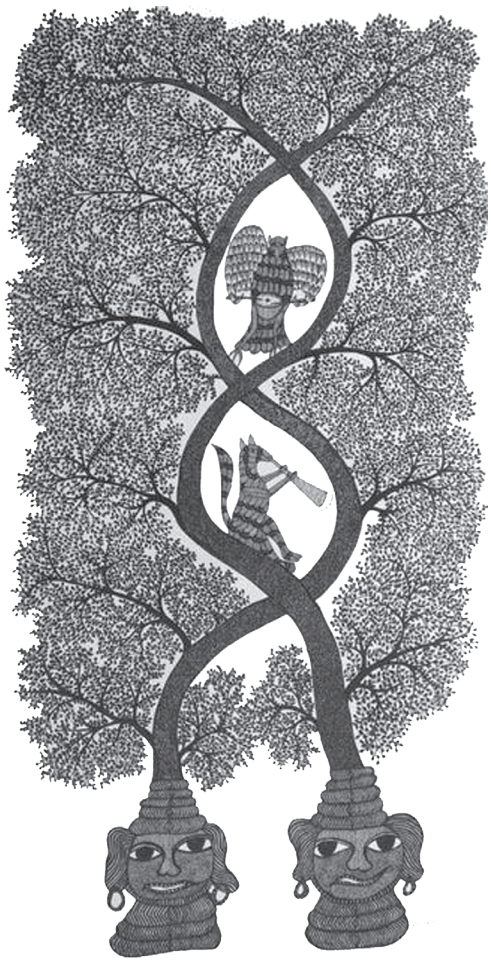

श्याम

सृजन के आसपास/112

जयनारायण प्रसाद, विक्रांत भट्ट, अरुणेश शुक्ल,
दीपक पगारे, सावित्री सिंह परिहार, मौसमी परिहार, प्रीति खरे

आवरण चित्र: रज़ा मावल
आवरण आकल्पन : वंदना श्रीवास्तव
भीतर का आकल्पन : विनय उपाध्याय, अमीन उद्दीन शेख

➲ **छायाचित्र :** उपेन्द्र पटने, विजय रोहतगी, राज, प्रवीण दीक्षित

➲ **रेखाकंन तथा अन्य चित्र :** अशोक भौमिक, अवधेश बाजपेयी, के. रवीन्द्र, ब्रजेश बड़ोले, कारोल गोल्ड, उषा संतराम, अमर सिन्हा

➲ **सहयोग :** हेमंत देवलेकर, महीप निगम, समीर चौधरी, रोहित श्रीवास्तव, उदय राजपूत

ज़रूरी नहीं कि पत्रिका में संग्रहित आलेखों-चित्रों में व्यक्त रचनाकारों के विचारों से 'रंग संवाद' सहमत हो। किसी भी विवाद के लिए न्यायिक क्षेत्र भोपाल रहेगा।

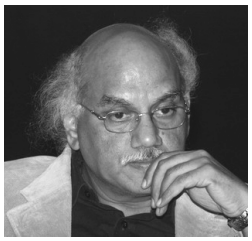

कलाओं में परस्परता का राग-अनुराग

'रंग संवाद' का यह अंक कलाओं में नवाचार पर केन्द्रित है।

थामस फ्रीडमैन ने कहा है- ''दुनिया समतल है। पर हमारे देश पर एक सरसरी निगाह भी यह सिद्ध कर देगी कि भारत समतल नहीं है। दसियों भाषाओं, सैकड़ों बोलियों, सांस्कृतिक अस्मिताओं और लम्बी सामाजिक, सांस्कृतिक परम्परा के चलते वह समतल हो भी कैसे सकता है?''

भारत में कोई भी कला जो नयेपन का आग्रह लिये आयेगी वह इस सांस्कृतिक विविधता और परम्परा की अनदेखी नहीं कर सकती। असल में नया भी पुराने से ही निकलता है वह उसके आधार पर ही खड़ा होता है। मुझे नये की परिकल्पना करते समय सातत्य अच्छा लगता है। तो कला में नयेपन का अर्थ क्या है? यह जानने के पहले हमें समझना होगा कि हमारे देश में तीनों काल यानी उत्तर आधुनिक, आधुनिक और सामन्ती एक साथ अस्तित्व में हैं और हालाँकि जनतांत्रिक ढाँचा अपना लिया गया है लेकिन सामाजिक ढाँचे से उसकी संगति ना होने के कारण बहुत सारी विद्रूपताएँ भी हमारे देश में उपस्थित हैं।

कविता और संगीत के सन्दर्भ में मैं यह बात पिछले अंकों में भी कह चुका हूँ। नाटक पर केन्द्रित बादल सरकार का एक अद्‌भुत आलेख 'रंग संवाद' के ही एक अंक में छपा था जिसका सन्दर्भ इस अंक में उभरे विमर्श के साथ उचित ही होगा। बादल का आलेख समाज और कला की ज़रूरतों और उसमें आये नयेपन की अवधारणा को नाटक की दृष्टि से स्पष्ट करता है। प्रोसीनियम थियेटर से आगे बढ़कर अन्तरंग थियेटर के रंगमंचीय अनुभव और वहाँ से निकलकर नुक्कड़ नाटकों तक समाज से जुड़ाव ही कला में नवीनता पैदा करता है। वे यह भी कहते हैं कि हमारे यहाँ एक शहरी परम्परा है और एक लोक परम्परा, और उनके बीच संवाद कम से कम है। ये दोनों ही रंगमंच एक शताब्दी से भी ज़्यादा समय से एक दूसरे के समानान्तर मौजूद हैं और फिर भी इनमें कोई विशेष आदान-प्रदान नहीं हुआ। हमारे यहाँ बड़े शहरों का निर्माण सामान्य रूप से नहीं बल्कि औपनिवेशिक ज़रूरतों की पूर्ति के लिये हुआ था जिन्होंने आगे चलकर ग्रामीण क्षेत्रों का दोहन प्रारम्भ कर दिया। शहरी बुद्धिजीवी अपने आपको लोक कलाओं और लोक परम्पराओं से ऊपर मानते हैं। दोनों परम्पराओं के बीच आदान-प्रदान के माध्यम से नाट्य कला का रूपान्तरण ही उसके नयेपन का परिचायक होगा।

परम्परा कोई स्थिर वस्तु नहीं, बल्कि सतत् प्रवहमान है। वह देश और काल दोनों में स्थित है और दोनों से ही प्रभावित होती है। परम्परा में यह प्रवाह परम्परा के विरूद्ध विद्रोह करके ही प्राप्त होता है। यानी रूढ़ हो चुकी परम्परा को त्यागना और उसके जीवन्त तत्वों को लेकर आगे बढ़ना और इस तरह नई परम्परा का निर्माण करना उसे प्रवहमान बनाना है। समय-समय पर इस तरह की रूढ़ियों को छोड़ा गया है और नया आह्वान किया गया है। इसी से भारतीय परम्परा बनती है।

परम्परा का मूल्यांकन भी उसके विकास तथा प्रवहमानता की दृष्टि से ही किया जाना चाहिए। उदाहरण के लिये अगर हम भाषा पर विचार करें तो उसे किसी 'दैवी' या 'दी हुई' चीज़ मानने के बदले यह देखना ज़्यादा न्यायपूर्ण होगा कि उसका विकास कैसे हुआ है, उसका रूप धीरे-धीरे कैसे बदला है। यदि संगीत पर बात करें तो रस और सौन्दर्य के साथ देखें कि समाज की आन्तरिक गति के साथ उसकी गति कैसे बदली है, उसने किन प्रभावों को लिया और किन प्रभावों को छोड़ा है। यदि साहित्य पर बात करें तो देखें कि वह किन मूल्यों से अनुप्राणित होता है और वे समय के साथ कैसे 'ट्रांसफार्म' हुआ है।

प्रयोगों में इस नवीनता को हमारे समय के अनेक गुणी कलाकारों ने विधाओं की समझ के आसपास अपनी रचनात्मक प्रस्तुतियों में उद्घाटित किया है। इन प्रस्तुतियों में कलाओं के अन्तर्सम्बन्धों का भी अद्भुत और रोचक आयाम खुला है। भोपाल सहित दिल्ली-मुम्बई के मंचों पर लगभग दो दशक पहले 'कविता यात्रा' की प्रस्तुति हुई तो सांस्कृतिक जगत में उसका व्यापक स्वागत हुआ। यह बीसवीं सदी की श्रेष्ठ कविताओं के चयन पर आधारित एक रंगमंचीय रूपक था, जिसमें नाट्य, संगीत और संवाद के ताने-बाने के बीच दर्शक-श्रोता के भीतर वैचारिक उद्वेलन की सम्भावना जागी। लोक में प्रचलित भक्ति पदों के साथ भी एक ऐसा ही मनोहारी प्रयोग 'अन्तर्लय' शीर्षक से किया गया। ब्रज और मैनपुरी इलाक़ों में प्रचलित पारम्परिक होलियों को उनकी मौलिक धुनों के साथ पुनर्ध्वन्यांकन करते हुए 'होरी हो ब्रजराज' की परिकल्पना हुई। लोक और शास्त्रीय संगीत की उठती गमक, इनसे झरता राग-रस का लालित्य और नृत्य के भावाभिनय के बीच इन होलियों को देखना आदिम यात्रा का सुख होता है। बच्चों के लिए लिखे गये गीतों का एक संकलन भी रंगपटल पर अत्यन्त लुभावना और रोचक प्रयोग था। सामाजिक उद्यमिता के अग्रणी संस्थान आईसेक्ट, रबीन्द्रनाथ टैगोर विश्वविद्यालय के सांस्कृतिक अनुषंग टैगोर विश्व कला एवं संस्कृति केन्द्र, वनमाली सृजन पीठ तथा टैगोर राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय इस तरह अनेक नवाचारों के साथ सक्रिय है। इन सबको उत्कर्ष मिला- 'विश्वरंग' में। साहित्य और कलाओं का यह विश्वव्यापी महोत्सव अपने गर्भ में इन्हीं सांस्कृतिक मंशाओं को समेटे हुए अपनी आवाज़ मुखरित करता है। साहित्य तथा कलाओं के बीच परस्परता का राग-अनुराग उस मानवीय सौहार्द के पास जाकर ठहरता है जहाँ प्रेम और करूणा की ज़रूरत हर समय में इस दुनिया को रही है।

'विश्वरंग' का विन्यास लोक और जनजातीय संस्कृति के बहुरंगों को अँजोरता है, तो शास्त्रीय और नागर कलाओं की समकालीन सर्जना तथा सरगर्मी के संयोग का फ़लक भी रचता है। भोपाल में पिछले चार वर्षों से आयोजित होने वाले 'विश्वरंग' की इन अनुगूँजों को भारत सहित दुनिया के अनेक देशों में सुना-गुना और सराहा गया।

यह दिलचस्प और उल्लेखनीय है कि 'परम्परा, प्रयोग और नवाचार' पर केन्द्रित 'रंग संवाद' के इस विशेषांक में लगभग सभी प्रबुद्ध लेखकों ने हमारे बुनियादी विचार और विमर्श को नई आभा प्रदान की है। संस्कृति मर्मज्ञ श्याम सुन्दर दुबे, नर्मदाप्रसाद उपाध्याय, अशोक भौमिक, राजेश व्यास, निर्मला डोसी, शंपा शाह, आलोक चटर्जी, राजेश गनोदवाले के विस्तृत आलेख हमारी परम्परा तथा उसके कलात्मक प्रवाह से हमें जोड़ते हैं। विवेक सावरीकर और पाँखुरी जोशी का नृत्य तथा नाट्य की मान्य विभूतियों से किया गया संवाद भी नए विमर्श को प्रस्तावित करता है। प्रसिद्ध लोक गायिका मालिनी अवस्थी ने अनुलता राज नायर के सवालों का जवाब देते हुए लोक की वाचिक परम्परा का सबल पक्ष प्रस्तुत किया है।

उम्मीद है, 'रंग संवाद' का यह अंक आपके लिए पठनीय और संग्रहणीय होगा।

अपनी प्रतिक्रिया से अवश्य ही अवगत कराएँ।

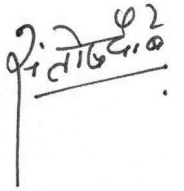

● **संतोष चौबे**

प्रधान सम्पादक

नए और अनूठे की तलाश

प्रयोग की स्वायत्त और खुली ज़मीन पर सृजन की सम्भावनाएँ सदा ही हरियाती रही हैं। कुछ हदबंदियाँ टूटती हैं। धारणाएँ दरकती हैं। जड़ताएँ पिघलती हैं। नया और अनूठा इसी बीच आकार लेता है। तयशुदा साँचों से बाहर निकलकर तहज़ीब भी नए ज़माने से आँख मिलाना चाहती है।

दरअसल कला, आज़ादी का उत्सव है। कल्पना की उड़ान भरते हुए वह अपने सतरंगी आसमान में दूर तक फैल जाती है, इसलिए सदियों के अन्तराल में उसका वजूद बाक़ी रहता है। उसके निशान कभी भी धूसर नहीं पड़ते। धरोहर के आसपास ठहरकर फिर यह यक़ीन गहरा होता है कि कला ही जीवन है और जीवन ही कला। दोनों स्वयंप्रकाशी हैं। दोनों साधना हैं। तपस्या के ताप में किसी सच की तलाश है। यहाँ आँसू और अवसाद भी आनंद में बदल जाते हैं और कला की कश्ती में बैठकर जीवन के महासागर को पार किया जा सकता है।

आलाप

हमारी ऋषि परम्परा ने कला को ईश्वर की आराधना कहा। इंसानी उसूलों का उद्घोष मानकर इन कलाओं का बहुरंगी संसार रचने वाले चितेरों ने यह साबित किया कि स्वर, शब्द, रंग, लय, गति, अभिनय और मुद्राओं में इस जीवन और जगत के हर देखे-अनदेखे को सिरजने की आकुलता को आकार दिया जा सकता है। इस तरह एक और संसार रचा जा सकता है। कलाओं की यह दुनिया मानवीयता के दरीचे खोलती है। एक ऐसे मानस की रचना करती है जो अमन और अपनापे का संदेश लिए सरहदों के फ़ासले पूरती है। अंततः मनुष्यता का हाथ थामती है।

दायरों से दूर होकर देखिये तो जनजातीय, लोक और नागर कलाओं तक यह अंतर्धारा बहती नज़र आती है। इनकी परस्परता एक ऐसा सांस्कृतिक परिवेश रचती है जहाँ लालित्य और सौंदर्यबोध एक परंपरा में अपना रूप गढ़ते हैं। कहीं कोई गीत, कोई छंद सुर-ताल से हमजोली कर रहा है। कहीं देह की भाषा उसके मर्म को नाटक में अभिव्यक्त कर रही है। कहीं कोई कथा-उपन्यास और नाटक रंगमंच पर अभिनय की छवियों में साकार हो रहे हैं। कहीं रंग-रेखाओं और मूर्ति-शिल्पों में कोई भावमय लगन चित्त में उठे किसी स्मृति बिम्ब को पा लेने की कसक से भरी है। आख़िरकार थक-हार कर कलाओं की छाँव में यह संसार बिरमना चाहता है।

हमारी दार्शनिक परम्परा ने कला के आदर्श को सत्य, शिव और सुन्दर के सूत्र से जोड़ते हुए उसकी पवित्रता पर मोहर लगायी। कलाओं के वजूद और उसके असर की गहराइयों को समझने की राह दिखाई। कला का प्रयोजन भी साफ़ तौर पर उजागर हुआ कि अन्ततः उसकी रचनात्मक ईमानदारी अपनी पवित्र साधना में चेतना के उस अंश की खोज है जो रचनाकार और रसिक के बीच आनंद का आत्मालाप बन सके। हज़ारों बरसों का सांस्कृतिक अतीत इस बात की गवाही देता है कि अँधेरा कितना भी घना हो कला की किरणों का निर्झर हमेशा बहता रहा।

'रंग संवाद' का यह अंक इस आग्रह के साथ परिकल्पित है कि परम्परा का मूल्यांकन हम इस दृष्टि से करें कि उसकी बुनियाद में जो सांस्कृतिक राग-अनुराग है वह मानवीय मूल्यों की थाती को कितना और कैसा अंजोर सका है? मनुष्य के साभ्यतिक विकास में उसके प्रभाव क्या रहे हैं? यह भी कि बहुलता का मान रखने वाली सांस्कृतिक आस्था का चेहरा आधुनिकता के बरअक्स कैसा है? दौड़, होड़, वर्चस्व और रिझाने के बाज़ारू समय में हमारी देशज कलाओं का स्वत्व कितना बाक़ी है? यह जाँचने की ग़रज़

भी, कि कलाओं में निहित 'मूल्यों' का वणिक समीकरण यदि 'मुद्रा' में हल हो रहा है तो उनकी सार्थकता के सवालों की पड़ताल भी ग़ैरज़रूरी नहीं। तकनीक जब सुविधा के साथ संताप बनकर समूचे जीवन में प्रवेश कर रही है तो उसके द्वन्द्व को समझने की भी दरकार है।

'रंग संवाद' का यह संस्करण इस तरह नए सांस्कृतिक विमर्श का प्रस्ताव है। हमें इस बात का संतोष है कि परम्परा, प्रयोग और नवाचार के आलोक से गुज़रते हुए हमारे वक़्ती दौर के अग्रणी और गुणी अध्येता, कलाकारों तथा आलोचकों ने सांस्कृतिक विमर्श की नई दिशाएँ खोली हैं। हिन्दी के ज्येष्ठ निबंधकार-चिंतक श्यामसुंदर दुबे परम्परा को अनुभव की प्रयोगशाला मानते हुए लोक मूल्यों के बचे रहने की कामना से भरे हैं। कला चिंतक राजेश कुमार व्यास संस्कृति की विशद व्याख्या करते हुए कला की विभिन्न विधाओं का संदर्भ लेते हैं। वे सूत्र देते हैं कि नवीनता, नवीन बनाने में नहीं, नवीन होने में है। यह जो नवीन होना है, वही परम्परा में प्रयोग और नवाचार है। कलाओं के अन्तर्सम्बन्धों की गहरी मीमांसा से गुज़रते हुए साहित्य और संस्कृति के प्रकाण्ड मनीषी नर्मदाप्रसाद उपाध्याय भारत के लघु चित्रों के दीप्त इतिहास के अध्याय खोलते हैं। वे उन परिसरों में आवाजाही करते हैं जहाँ सामान्य दर्शक तो दूर, हमारे समय के कथित आला रंगरेज़ों ने भी दस्तक देना ज़रूरी नहीं समझा जबकि मिनिएचर पेंटिंग अद्वितीय प्रयोगों में यहाँ अपने ऐश्वर्य में बिखरी पड़ी हैं। लेखक नरेन्द्र नागदेव चित्रों में अमूर्तन को ठीक से देखने-समझने का मशविरा देते हैं। इस प्रवाह में चित्रकार-कलागुरु अशोक भौमिक भारतीय चित्रकला के मर्म को स्पर्श करते हैं। वे कला में प्रयोग के हिमायती हैं और कला के विकास में प्रयोग की रचनात्मक भूमिका को लक्ष्य करते हैं। शिल्पकार शंपा शाह जनजातीय कलाकारों की स्मृति और संवाद के हवाले से यह निष्कर्ष सामने रखती हैं कि पारम्परिक कलाएँ लाख नवाचार कर डालें पर वे आधुनिक नहीं हो सकतीं।

कैरोल गोल्ड

पारम्परिक कलाओं की गहरी जानकार लेखिका निर्मला डोसी हस्तकलाओं के साथ जुड़े हुनर को देखते हुए जीवन, प्रकृति और संस्कृति के बीच उनके रचनात्मक सरोकारों की पड़ताल करती हैं। कवि-कलाकार विवेक सावरीकर ने गुरु परम्परा में दीक्षित नर्तकों से प्रयोग पर ग़ौरतलब संवाद किया है। पाँखुरी वक़्त जोशी संस्कृत रंगमंच की महिमा को कमलेशदत्त त्रिपाठी और राधावल्लभ त्रिपाठी सरीखे नाट्य शास्त्र के ज्ञाताओं के ज़रिये रेखांकित कर रही हैं। प्रसिद्ध रंगकर्मी आलोक चटर्जी रंगभूमि पर हो रहे नए प्रयोगों का जायज़ा लेते हुए गुणवत्ता की कसौटी पर खरी टिप्पणी करते हैं।

इस अंक में कला समीक्षक राजेश गनोदवाले, स्नेहा कामरा, स्वरांगी साने और शाम्भवी शुक्ला के आलेख संगीत की आधारभूत जानकारियाँ साझा करते हुए नवाचारों के कोनों में उठ रही अलक्षित आवाज़ों से हमारा परिचय कराते हैं। इस श्रृंखला में क्रान्तिकारी गायक पं. कुमार गन्धर्व से संगीत समीक्षक मुकेश गर्ग की बेबाक बातचीत, विचार और प्रयोग के नए द्वार खोलती है। युवा सिनेकर्मी सुदीप सोहनी और संजय सिंह राठौर ने चित्रपट पर परिवर्तन की पदचाप को सुनते हुए उसका रोचक ब्योरा पेश किया है। एक कोना साहित्यकार-उद्योगपति आलोक सेठी की उस टिप्पणी से रौशन है जहाँ वे भाषा की चिन्ता कर रहे हैं, नवाचार पर उनकी नज़र है, लेकिन शब्द संस्कार के प्रति सजग भी हैं। इस अंक की विशेष उपलब्धि है प्रख्यात लोक गायिका मालिनी अवस्थी से अनुलता नायर की ख़ास बातचीत जो सपनों, संघर्षों और शोहरत से गुज़रती एक नायाब शख़्सियत के पोशीदा पहलुओं को परत-दर-परत खोलती है।

सौ से भी ज़्यादा पृष्ठों में विन्यस्त 'रंग संवाद' के आवरण पर जो तसवीर शाया है उसे भोपाल के मशहूर छायाकार रज़ा मावल ने अपने ज़खीरे से हमें साझा किया है। कहने को बहुत सारा है... बेहतर है, आपकी प्रतिक्रियाएँ हमारे संवाद को व्यापक और घना करें!

आपके लिए वासन्ती शुभकामनाएँ।

● **विनय उपाध्याय**

परम्परा को समय के अनुकूल और उसके सापेक्ष सार्थक बनाने के सभी प्रयास प्रयोग के अंतर्गत स्वीकार किये जा सकते हैं। ये प्रयोगशीलता जब नित नूतन आचरण करने लगती है तब नवाचार का सूत्रपात होता है।

परम्परा अनुभव की प्रयोगशाला

श्याम सुन्दर दुबे

मनुष्य की सम्पूर्ण सामाजिक-सांस्कृतिक उपलब्धियों का इतिहास परम्परा, प्रयोग और नवाचार के सातत्य का परिणाम है और परम्परा को समय की सापेक्षता में सार्थक बनाने के सभी प्रयास प्रयोग के अन्तर्गत स्वीकार किये जा सकते हैं। ये प्रयोगशीलता जब नित नूतन आचरण करने लगती है तब नवाचार का सूत्रपात होता है। यही सिलसिला सृष्टि-विकास के मूल में उदात्त जीवन-मूल्य का निर्धारक बनता है।

हमारा लोक सदैव इन्हें साधता रहा है और अपने सदा क़ायम रहने वाले विकास का मार्ग तय करता रहा है। लोक का केन्द्रीय उद्यम कृषि रहा है। शेष व्यवसाय इसके सहयोगी और परिपूरक रहे हैं। मनुष्य की गतिशील वृत्ति ने जंगली भूमि पर आग लगाकर अपने खेत बनाये। इन पर वह फ़सल उगाता और इन्हें छोड़कर आगे बढ़ जाता। खेती के उपकरण क्या थे? उनकी तकनीक क्या थी? इनका अनुमान भर किया जा सकता है, किन्तु यह सत्य है कि मनुष्य उस समय तक अयस्क युग में प्रवेश कर गया था। जो लौह धातु उसके लिये शिकार करने का साधन थी- हथियार की शक्ल में उसकी नोक को उसने झुकाया और खेत जोतने के लिये हल का प्रारम्भिक हुलिया प्रदान किया। यह उसका कौशल था और मानसिक परिवर्तन भी हिंसा की जगह अहिंसक होने की यह बड़ी घटना थी। ग्राम समूह बने। कर्मकारिता के आधार पर सामाजिक समुदाय बने। कोई कृषक बना, कोई लुहार, कोई बढ़ई, कोई सुनार, कोई ताम्रकार और कोई पुरोहित! घर-गृहस्थी ने आकार लिया और घरेलू सामग्री, घरेलू उपकरणों का निर्धारण हुआ, जिनका उत्पादन समुदाय विशेष के ज़िम्मे था। तमाम तरह का लोक विज्ञान अस्तित्व में आया। स्वास्थ्य, शिक्षा, भोजन, वस्त्र, भवन आदि का ताना-बाना बुना गया। इन सबके भीतर मनुष्य की मेधा प्रयोगशील रही और उपकरणों, संसाधनों के नये-नये रूप आवश्यकता के अनुरूप विकसित होते रहे। हम कह सकते हैं कि परम्परा अनुभव की प्रयोगशाला है।

यह उन्नीसवीं शती का समापन और बीसवीं शती का प्रारम्भिक काल था, जब स्थिर लोक जीवन में त्वरापूर्वक बदलाहट के आसार नज़र आने लगे। हल का रूप आकार बदलना प्रारम्भ हुआ। लोहे का तिफन आया। इसमें तीन फ़ान थे, जो खेत में एक साथ तीन कूँड निकालते थे। एक साथ तिगुनी जुताई होने लगी। समय और श्रम में कटौती हुई। सन् 1950 के आसपास मेरे गाँव में 'मैसी फर्ग्यूसन ट्रेक्टर' आ गया। वह रूस का प्रोजेक्ट था। इसमें छह फाल थे। इसने कुछ हलवाहों और बैलों को अपदस्थ किया। गाँव के लोगों ने

विज्ञापनों में लोक घुस रहा है। परम्परा के भीतर चलने वाली प्रयोगों की सक्रियता बढ़ी है। पूजा-पाठ और हमारी आध्यात्मिक गतिविधियाँ आधुनिक उपकरणों का सहारा लेकर विश्वव्यापी हो रही हैं। यह हमारा आत्मगौरव का स्फीत दर्प नहीं है बल्कि यह चुपके-चुपके भारतीय परम्परा का नया रूपान्तरण है जो कहीं-कहीं दृश्यमान हो रहा है और कहीं-कहीं अदृश्य रहकर भी अपना काम कर रहा है। विवाह जैसे कार्यक्रमों में बफे सिस्टम वाली पंगत में ज्वार-बाजरा की रोटी और सरसों की साग पर मेहमानों की भीड़ जुड़ रही है।

इसका स्वागत नारियल फोड़कर और ट्रेक्टर के अग्रभाग पर स्वास्तिक बनाकर किया। एक ट्रेक्टर ने गाँव में आकर गाँव के अनेक उद्यमरत कर्मकारों को चिन्ताग्रस्त कर दिया। हल के काष्ठगत पुरजे बनाने वाला बढ़ई फाल और सरिया बनाने वाला बढ़ई, बाँस की ढुलिया बनाने वाला बंसकार और हल का पूजन कराने वाले पुरोहित के कामधंधों पर असर पड़ना प्रारम्भ हुआ। तीज-त्यौहारों और उत्सव-समारोहों के आयोजन में जो लोग हिस्सेदारी करते थे, वे असमंजस में फँस गये। उनके इन्वाल्वमेंट में जो रस प्रसंग में थे, वे धूमिल पड़ने लगे क्योंकि अब इन आयोजनों के माध्यम भर थे। ये वही समय था, जब आकाशवाणी ने इन साँस्कृतिक आयोजनों को साँचे में ढालना प्रारम्भ किया और क्षेत्रीयता के रंग-रोगन पर, प्रचारकारी अँचलों को लुभावनी प्रस्तुतियों ने अपने प्रभावी हस्तक्षेप से नयी चित्र-रचना करना प्रारम्भ की।

खाँटी पहचान के आधार ढूँढ़ने लगे। पारम्परिक क्षेत्रीय मनोविनोद और कला-प्रसंगों के मिश्रित प्रयोगों का इज़ाफ़ा हुआ। गाँवों में जो गड़ा-गेंद का खेल था वह क्रिकेट के अनुकरणपरक आयामों में तब्दील हुआ। बासत के नाच-गान में भांगड़ा आ घुसा। नये-नये व्रत-त्यौहार अपने नये परिवेश में आये, वैभव लक्ष्मी, संतोषी माता और करवा चौथ के आयोजन धर्मी लक्षण प्रकट होने लगे। इस प्रक्रिया में कुछ क्षेत्रीय व्रत-त्यौहार लुप्त होने लगे। बुन्देलखंड के अनेक व्रत-त्यौहार लोग भूल चुके हैं। धोती-कुर्ता-बंडी शरीर पर से उतरने लगी और पैंट-कमीज़ सार्वजनिक हुए। ग्रामीण दर्जी बेरोज़गारी में फँसने लगे। यह संक्रमण काल था। जब कुछ ग्रहण किया जा रहा था और कुछ छोड़ा जा रहा था।

इस समय परम्परा प्रेमियों की चिन्ता का इज़हार होने लगा था। चिंतन-मनन में अपनी जड़ों से उखड़ने का प्रलापी परिवेश लिखत-पढ़त में प्रकट हो रहा था। परिवर्तन की दुर्निवारता को लक्षित करके कहा जाने लगा था- ''परिवर्तन ही यदि जीवन है, तो हम बढ़ते जाते हैं, किन्तु मुझे तो भाव ही भाते हैं।'' मैथिलीशरण गुप्त की यह अभीप्सा परम्परा और प्रयोग के बीच की भाव-संधि थी। राजनीति विकास का जो मॉडल स्वीकार कर रही थी, वह भारतीय आधारों को खंडहरी ही बना रहा था। बड़े बाँधों के निर्माणों के स्वप्न, गाँव-गाँव के छोटे तालाबों को शैवालपूरित कर उन पर आवास निर्माण की नींव डाल रहे थे। जीवन-मूल्यों में त्याग नदारद हो रहा था और भोग का संसार फैल रहा था-फिर भी भावों का पूरा आदर था।

बीसवीं सदी का उत्तरार्द्ध कई स्तरों पर खंडन-मंडन बनकर आया। उद्योग-धंधे जो लोक जीवन के व्यवसाय-तंत्र थे, वे तहस-नहस हुए। श्रमिकों और कर्मकारों का पलायन प्रारम्भ हुआ। नगरों-महानगरों में ये अपना स्थान तलाशने लगे। मोहकारी संक्रमणशीलता का बोध समाप्त हुआ। अब मोह-भंग का मलाल भी नहीं रहा। खेती, उद्योग, व्यापार, जीवन-व्यवहार सब बदल चुके थे। खेतों में हार्वेस्टर थे। उद्योग में टाटा-बिड़ला थे। बाज़ार में विश्व बाज़ार उतर आया था। विकास का पश्चिमी मॉडल हमारे लिये काम्य हो चुका था। परिवर्तन को तेज़ करने वाले कारक अब अधिक सशक्त हो गये थे। सूचना के संचार की गतिशीलता और उसकी व्यापक इलेक्ट्रॉनिक माध्यमों से प्रभावशाली हुई और पीढ़ियों की परम्परा का नाभिनाल छिन्न-भिन्न हो गया। अब हमारे समय का चेहरा एकदम बदल गया था। परम्परा को लेकर किया जाने वाला प्रलापी-स्वर एकदम क्षीण हो गया। लोक में क्रिकेट था, जीन्स था, स्काई शॉप था। कुल मिलाकर आधुनिकता सर्वस्वीकृत स्वरुप अब स्थायी था। किन्तु क्या इस समूचे परिवर्तन के बीच परम्परा ध्वस्त हो गयी थी और उसके भीतर चलने वाली प्रयोगशीलता समाप्त थी? यह प्रश्न इसलिये कि क्या जॉज़, थाप वाला संगीत, बर्गर और पिज्ज़ा वाला स्वाद ही हमारी पहचान हो गया था।

भारतीय सन्दर्भ में इस सामाजिक और सांस्कृतिक विकास को सहज रैखिक मानकर सन्तोष नहीं किया जा सकता है। इस विकास में भारतीयता की ऊर्जा की उछाल भी अपनी मजबूत स्थिति में सक्रिय थी। उसने संपूर्ण आधुनिकता के घटाटोप में अपनी जड़ों की तरतराहट की ऊष्मा को सक्रिय और प्रयोगों के लिये अवकाश निर्मित किया। मैं छतरपुर के निकट बरसानी के बुन्देली मेले में था। वहाँ एक कुम्हार अपनी दुकान लगाये था। मृदा निर्मित एक-से-एक खिलौने और सज्जा के आइटम बिक रहे थे और लोग चाव से क्रय भी कर रहे थे। खजुराहो घूमने आये विदेशी मेहमान भी उनमें रुचि ले रही थी। यह उद्यमिता का पुनर्वास था। ऐसा नहीं है कि यह पुनर्वास किसी ख़ास उद्योग का संकेतक है। सर्वत्र यह परिलक्षित हो रहा था। लोक संगीत मन पर अपने सुरीले रंग बिखेर रहा था। चँदेरी की साड़ियाँ धड़ल्ले से बिक रही थीं। लोक कला का बाज़ार फैल रहा था। लोक चित्र शैली ड्राईंग रुम में अपना स्थान निर्धारित कर रही है, लोक नाट्य आधुनिक टेक्नीक का आश्रय लेकर आकर्षण उत्पन्न कर रहा था। लोक बोलियों का महत्व लौट रहा था। विज्ञापनों में लोक घुस रहा है। परम्परा के भीतर चलने वाली प्रयोगों की सक्रियता बढ़ी है। पूजा-पाठ और हमारी आध्यात्मिक गतिविधियाँ आधुनिक उपकरणों का सहारा लेकर विश्वव्यापी हो रही हैं। यह हमारा आत्मगौरव का स्फीत दर्प नहीं है बल्कि यह चुपके-चुपके भारतीय परम्परा का नया रूपान्तरण है जो कहीं-कहीं दृश्यमान हो रहा है और कहीं-कहीं अदृश्य रहकर भी अपना काम कर रहा है। विवाह जैसे कार्यक्रमों में बफे सिस्टम वाली पंगत में ज्वार-बाजरा की रोटी और सरसों की साग पर मेहमानों की भीड़ जुड़ रही है।

भूभौतिकी, परिवेश और प्रकृति अपना काम ख़रामा-ख़रामा करते रहते हैं। इनके विपरीत का असर न तो हमारा शरीर झेल सकता है न मन! इसलिये इनके अनुकूलन के अवसर हमारी मेधा निरन्तर तलाशती रहती है। यही तलाश परम्परा में प्रयोग की आधार बनती है। भाषा, भूषा और भोजन में हम अपनी जड़ों की ओर लौट रहे हैं। पाश्चात्य त्यौहारों को हम अपनी जातीय-स्मृतियों के रेशों में लपेटने की जुगत कर रहे हैं। हमारी आधुनिकता भविष्य में भारतीय परम्पराओं की श्रेयस्कर ध्वजा विश्व आकाश में फहरने के लिये तैयार है। हमारा जीवन-दर्शन ''सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे संतु निरामया। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद दुःख भाग भवेत्।'' पर आधारित है और यह सार्वकालिक और सार्वदेशिक है, हमारी परम्परा का यही मूलाधार भी है।

- shantanudubey478@gmail.com

बग़ैर किसी व्यवधान के बरसों-बरस से चली आ रही श्रृंखला ही परम्परा है। गिन्सबर्ग ने उन सम्पूर्ण विचारों, आदतों और प्रथाओं के योग को परम्परा कहा है जो जन साधारण से सम्बन्धित हैं और पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरित होती रही है। मुझे लगता है, परम्परा संस्कृति से जुड़ी वह अनिवार्य दृष्टि है जिसमें चले आ रहे मूल्यों को स्वीकार करते हम आगे बढ़ते हैं। यह जो आगे बढ़ने की प्रक्रिया है, वही प्रयोग और नवाचारों के रूप में एक तरह से मनुष्य का अन्वेषण है।

कला
बन्धन से मुक्ति का
उद्घोष

राजेश कुमार व्यास

कलाओं की दृष्टि से जब विचारता हूँ तो यह लगता है कि तमाम कलाएँ जाने-अनजाने में परम्पराओं के आलोक में अन्वेषण की ही एक तरह से बढ़त है। पर मूल बात है, परम्परा के रूप में जो कुछ विरासत का हमारे पास है उसकी गहरे से पहचान और फिर स्वीकार।

अज्ञेय का एक बहुत ही महत्वपूर्ण निबन्ध है, 'संस्कृति की चेतना'। इसमें संस्कृति पर उनका विरल चिन्तन है। वह लिखते हैं, 'संस्कृति का अनिवार्य सम्बन्ध मूल्य-दृष्टि से होता है और अगर हममें संस्कृति की चेतना है अथवा जागृति है तो उसका अर्थ केवल इतना ही नहीं है कि हम परम्परा से चले आये मूल्यों को पहचान लें और स्वीकार कर लें। चेतना केवल स्वीकार-भाव नहीं है। मूल्य दृष्टि की चेतना मूल्यों की अर्थवत्ता की अनवरत खोज प्रक्रिया है। अर्थवत्ता की यह खोज मूल्यों की प्रत्यभिज्ञा तक ही सीमित नहीं रह सकती बल्कि उन का पूनर्मूल्यांकन और प्रमाणीकरण भी करती चलती है और वैसा करना अपना अनिवार्य कर्त्तव्य मानती है। दूसरे शब्दों में कहें कि कोई भी चेतना संपन्न संस्कृति (वास्तव में चेतना संपन्न न रहने पर उसे संस्कृति कहना ही नहीं चाहिए, लेकिन संस्कृति की जड़ अवस्थाओं को भी संस्कृति समझने की भूल में पड़ जाना बहुत कठिन नहीं है!) एक जिज्ञासु भाव अथवा प्रश्नाकुलता लिये रहती है और प्रश्न पूछने का यह सामर्थ्य, इस आकुलता की मात्रा, उसकी जीवन्तता, उस के चैतन्य की माप हो सकती है। संस्कृति का विचार हम करें तो इस दृष्टि से अतीत परम्परा का मूल्य आँकें, इसी दृष्टि से भविष्य का निर्धारण करें। तभी हम अपने वर्तमान को भी पहचान सकते हैं।'

असल में परम्परा को यदि हम अतीत की विरासत के अर्थ के रूप में ही समझेंगे तो यह उसका रूढ़ अर्थ होगा। जड़त्व लिए। वह तमाम परम्पराएँ जड़ हैं, जिनमें बग़ैर कुछ सोचे-समझे अतीत से जुड़े भौतिक-अभौतिक को विरासत मानते निर्वहन किया जाए। और ऐसी कोई भी परम्परा वर्तमान का पथ प्रशस्त नहीं कर सकती। संगीत, नृत्य, नाट्य, चित्र और दूसरी तमाम कलाओं में परम्परा को इसी अर्थ में देखे जाने की ज़रूरत है। यह बात इसलिए कि जिस भी कला में विरासत को गहराई से पहचाने बग़ैर स्वीकार करते आगे

बढ़ने का प्रयास किया गया है, परम्परा रूढ़ि बनी है और उससे कला-रूपों में किसी तरह की कोई बढ़त होती नहीं दिखी है।

नाट्यशास्त्र की ही बात करें। यह आज भी उतना ही प्रासंगिक है जितना कि उस समय में जबकि यह लिखा गया था। इसके आरम्भ में ही आता है-

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन यन्न दृश्यते।।

अर्थात् ऐसा कोई ज्ञान नहीं है, न शिल्प, न कोई ऐसी विद्या, न कला, न योग और न ही कोई कर्म, जो नाट्य में न पाया जाता हो। नाट्य शास्त्र असल में कलाओं का ही नहीं, परम्परा, प्रयोग और नवाचारों का भी मर्म है। नाम पर जाएँगे तो यह नाट्य विधा से जुड़ा लगेगा पर चारु और कारु रुप में कोई भी कला इससे अछूती नहीं है। अभिनव ने नाट्य शास्त्र को 'सर्वशिल्प प्रवर्तकम' कहा है। माने सभी कलाओं का प्रवर्तन इसी से है। उनके प्रयुक्त 'सर्वशिल्प' और अंग्रेज़ी के शब्द एब्सट्रेक्ट या अमूर्त के स्थान पर नाट्यशास्त्र में आए 'स्वप्रतिष्ठ' जैसे बहुत से शब्दों को बरतना प्रारम्भ करेंगे तो हिन्दी में कला की पूरी एक शब्दावली तैयार हो सकती है। भरत ने इसमें एक स्थान पर स्पष्ट किया है, नाटक वस्तुतः नाटक नहीं प्रयोग है। थोड़े में बहुत सारा कहूँ तो यह 'प्रयोग' ही परम्परा की बढ़त है। कलाओं की दृष्टि से नाट्यशास्त्र विरासत में मिली परम्परा है पर प्रयोग के रूप में इसे नहीं बरता गया तो एक समय के बाद यह भी जड़ होता प्रतीत होगा। कलाओं से जुड़ी परम्परा में यदि चेतना के साथ एक जिज्ञासु भाव अथवा प्रश्नाकुलता नहीं रही तो कहीं किसी तरह की कोई बढ़त नहीं होगी। भरतमुनि ने रस की अपूर्वता और नये उन्मेश की सम्भावनाओं में हमारी प्राचीन कला-परम्परा को इसमें पुनर्नवा ही तो किया है! भरत कोई एक नहीं हुए हैं, भरतों की पूरी परम्परा हमारे यहाँ रही है। भरतमुनि ने अव्यक्त रस को केन्द्र में रखकर कोई एक कला नहीं तमाम कलाओं को एक बड़ा आधार नाट्यशास्त्र के अन्तर्गत प्रदान किया है।

नाट्य में नृत्य के समावेश का जो प्रसंग नाट्शास्त्र में है, वह अपूर्व है। नाट्यशास्त्र का चतुर्थ अध्याय ताण्डव नाम के विशुद्ध नाच पर है। छोटी-सी कहानी से यह अध्याय प्रारम्भ होता है। नाट्य की उत्पति के बाद स्वयं ब्रह्मा ने दो नाट्य-रूपों की रचना की। पहला अमृतमंथन और दूसरा त्रिपुरदाह। देवताओं और असुरों द्वारा समुद्र मथने की कथा के आलोक में अमृतमंथन की कहानी 'अमृतमंथन' नाटक में थी तो दूसरे 'त्रिपुरदाह' में शिव द्वारा त्रिपुर पर विजय की कहानी थी। दोनों ही नाटक शिव को दिखाने के लिए हिमालय के रम्य परिवेश पर खेले गये। शिव ने प्रशंसा की। पर बोले, 'देखो मैं भी कुछ करता हूँ। और यह कहते वह नाचते हैं। और बाद में कहते हैं कि यह जो नृत्य मैंने किया, उसे नाट्य के पूर्वरंग में डाल दो। ब्रह्मा ने कहा कि मैं नृत्य जानता नहीं हूँ। सिखाइये। शिव ने तण्डु को बुलाया। तण्डु ने ब्रह्मा और भरत के आगे शिव के ताण्डव-नृत्त का वर्णन-विवेचन किया ताकि भरत उस नृत्त की प्रयोग-विधि को जान सके। पर फिर प्रश्न हुआ कि नाट्य के लिए अभिनय की निर्मिति तो समझ आती है पर नृत्त का नाट्य में क्या प्रयोजन? उत्तर मिलता है कि नृत्त किसी अर्थ की अपेक्षा नहीं रखता परन्तु शोभा को जन्म देता है। यह जो 'शोभा' है, उसे ही हम अतीत से

परम्परा के प्रवाह में रूप धरती कलाएँ

उपनिषद् में कथा आती है।

गुरु के पास जाकर शिष्य कहता है- 'कुछ ऐसा बताईए, जो किसी ने अब तक न बताया है। ऐसा जो सत्य है।'

गुरु फलों से लदे पेड़ के नीचे बैठे थे। उन्होंने कहा- 'फल तोड़ो।' शिष्य ने फल तोड़ा और गुरु को सौंप दिया। गुरु शिष्य को फल देते हुए कहते हैं- 'इसके टुकड़े-टुकड़े कर दो।'

शिष्य फल के टुकड़े-टुकड़े कर देता है। बीज निकल आते हैं। गुरु फिर कहता है- 'बीजों को तोड़ो।' शिष्य बीज तोड़ता है तो वह बहुत छोटी-छोटी राइयों की तरह धरती पर बिखर जाते हैं। गुरु कहते हैं- 'और तोड़ो और देखो कि क्या दिखता है?' शिष्य कहता है- 'कुछ नहीं दिखा।'

गुरु बोले- 'यह जो 'कुछ नहीं' है, उसी में सारी संभावना समाई हुई है। हरेक बीज अपने अन्दर भविष्य की अनन्त सम्भावनाएँ समाए हुए है। आँख से भले ही न दिखे पर उसमें पूरा का पूरा हरा-भरा फलों से लदा वृक्ष समाया हुआ है। यही सृष्टि है।' उपनिषद् की इस कथा के आलोक में, भारतीय दर्शन के गूढ़ में जब जाता हूँ तो यह अनुभूत करता हूँ कि सृष्टि में जो कुछ अव्यक्त है, वही देश-काल से परे व्यक्त के विविध रूपों में निरन्तर बढ़त करता है।

परम्परा के प्रवाह में प्रयोग और नवाचारों से कलाएँ भी भाँत-भाँत के रूपाकारों में ऐसे ही निरन्तर आगे बढ़ती हैं।

चली आ रही जो परम्परा है उसकी प्रयोग बढ़त कह सकते हैं। नाट्यशास्त्र का पारायण करेंगे तो अनुभव होगा, पूरी की पूरी परम्परा से मिली यह जो धरोहर है वह प्रयोगधर्मिता से ही जुड़ी है। नाट्य की बढ़त भी कब होती है? जब प्रयोग और नवाचारों से उसमें नया कुछ सिरजने, अनुभव कराने के लिए प्रयास किए जाएँ।

शास्त्रीय संगीत की बात करें तो वहाँ पहले से चले आ रहे रागों का संसार ही सब-कुछ है। राग वही हैं जो पहले से चले आ रहे हैं पर कलाकार उन रागों में सदा अपने आपको पुनर्नवा करते हैं। हर कलाकार परम्परा से चले आ रहे राग को ही तो गाता है परन्तु उसमें भी वह अपने आपको विरल ढंग से, दूसरों से कुछ अलग रूप में साधता है। यह जो साधना है-मैं समझता हूँ, वही प्रयोग और नवाचार है।

राग शाश्वत हैं, उनके अपने अनुशासन हैं। उस अनुशासन में किसी तरह की छेड़छाड़ नहीं करते हुए भी शास्त्रीय गायक और वादक उनमें अपने होने को उजागर करते हैं। राग वही है जिसे पंडित जसराज गाते हैं, जिसे पंडित भीमसेन जोशी गाते हैं, मल्लिकार्जुन मंसूर गाते हैं, ओंकारनाथ ठाकुर गाते हैं, कुमार गंधर्व, किशोरी अमोणकर जिसका निर्वहन करते हैं परन्तु हर कलाकार उस राग में नया होता है। उसकी अपनी शैली में वह पहचाना जाता है। राग बरतने के विरल ढंग में वह अपने आपको रूपायित करता है। अतीत से जो चला आ रहा है, उसके ठोस आधार के बावजूद कलाकार परम्परा में बन्धता नहीं है, अपने आपको जकड़ता नहीं है। इसलिए कि परम्परा में यदि बन्ध गए, उसी में रम गए तो फिर तो अन्त है। मुझे लगता है राग शाश्वत हैं- जीवन मूल्यों की तरह। पर समय के प्रवाह और मानव संस्कारों में उनका असर बदलता रहता है। जो कलाकार समय के प्रवाह संग चलते पहले से बने राग में नवीनता का उत्स करता है, प्रयोगों से बढ़त करता है वही अपनी पृथक पहचान बना पाता है।

असल में शास्त्रीय संगीत या किसी अन्य कला में पहले से निहित नियम-अनुशासन में अन्वेषण की अनन्तता होती है। मूल बात है राग की शिक्षा और दीक्षा का। हमने जो कुछ परम्परा में प्राप्त किया है, उसे गुना कैसे है। उसकी शिक्षा किस प्रकार से ली है। यदि रटन्त में ही सब कुछ ग्रहण किया है तो नया कुछ नहीं हो सकता। सिद्धान्त भर में ही गए तो फिर प्रयोगों की कोई सम्भावना भविष्य में नहीं रहेगी परन्तु यदि परम्परा में सीखे को गुन लिया, उसे पूरी तरह से समझ लिया, हृदय में बसा लिया तो फिर नवीनता की सम्भावना है। परम्परा को ठीक से समझने के लिए पहले उसके अन्दर गहरे तक प्रवेश करना होता है। उसमें अपने आपको एक-मेक करना होता है। उसमें अपने आपको पूरी तरह से घोलना होता है। जब ऐसा हो जाएगा तभी आलोक मिलेगा। या कहें उस आलोक में हम नया कुछ पा सकेंगे।

परम्परा व्यक्त है, पर उसमें बहुत सारा अव्यक्त भी समाया होता है। जो कुछ किया गया है, उसमें बहुत सारा और करने की भी गुंजाईश बची होती है। भारतीय दर्शन परम्परा में भी जाएँगे तो पाएँगे लोक, शास्त्रीय, देशी-मार्गी आदि सभी में परस्पर निर्भरता के साथ बहुत कुछ और समावेश किए जाने के बीज बिखरे होते हैं। कलाओं के विविध रूपों में यह बीज प्रयोग और नवाचारों के उर्वर चिन्तन में ही अंकुरित होते रहते हैं।

गौतम बुद्ध का दर्शन है, 'वर्तमान में रहो। उसके एक-एक पल को विचारपूर्वक जियो। जैसा विचार करते रहोगे, वैसे ही बनते जाओगे।' बड़ा महत्वपूर्ण है यह दर्शन। भारतीय दर्शन का एक तरह से सार है यह। हमारे यहाँ पुराने को विसर्जित कर नए रचने की ओर जोर दिया गया है। जब तक पुराने पत्ते पेड़ से झड़ेंगे नहीं, नए पत्ते कैसे उगेंगे! कलाएँ मूलतः अमूर्त होती हैं। जो कुछ वहाँ दिखता है, उससे अधिक सच वहाँ उसमें निहित नहीं दिखने वाला अदृश्य भी होता है। परम्परा में वहाँ जो कुछ मिलता है, वह चाहे मूर्त रूप में हो परन्तु भावनात्मक स्तर पर, एकाग्रता से उस विरासत को अनुभूत करेंगे तो बाह्य का अन्तर बनता नज़र आएगा। अन्तर का औचक बाह्य में रूपान्तरण भी तब होता लगेगा। यह जो रूपान्तरण की प्रक्रिया है, वही कला का अन्वेषण है। इसकी समझ ही परम्परा की जीवन्तता और प्रयोग और नवाचारों में बढ़त है। भारतीय मूर्तिकला की परम्परा पर ही विचारें। वहाँ यथार्थ महत्वपूर्ण नहीं है। स्थूल शरीर वहाँ गौण है, मूल है अन्तर का लोक। देवी-देवताओं का अंकन प्राचीन मूर्तियों में हुआ है तो वहाँ उससे जुड़े देवत्व भावों, प्रवृतियों और अंतर्मुखी-अमूर्त, अव्यक्त की अनुभूति है। मूर्तिकला असल में हमारे यहाँ बाह्य से अधिक आन्तरिक भावों की गहराई से जुड़ी रही है। सौंदर्य की दृष्टि से अनुपात और लयताल का जो निर्वहन वहाँ हुआ है, उसमें बाह्य की बजाय आन्तरिक पक्षों की गहराई है। विभिन्न कालखण्डों की हमारे यहाँ सिरजी संग्रहालयों में संरक्षित मूर्तियों पर ग़ौर करेंगे तो पाएँगे अनुपात-लय और ताल में मूर्तियाँ तीव्र और रसमय माधुर्य का आस्वाद कराने वाली हैं। माने किसी मूर्ति को आपने उसकी समग्रता में देखा है तो एक बार नहीं, बार-बार देखने के लिए वह आपको आमंत्रित करेगी। यथार्थवाद से इतर प्रकृति तत्व की वहाँ प्रधानता है।

कपिला वात्स्यायन इसीलिए भारतीय मूर्तिकला को पूर्णता और समग्रता के रूप में परिवर्तन करने की खोज से अभिहित करती है। वह कहती हैं कि भारतीय मूर्तिकला का लोक प्राकृतिक मानवतावाद की उपस्थिति से आरम्भ नहीं होता है। वह भी अन्तर्मुखी-अमूर्त, अव्यक्त अनुभूति में होता है-वह कलाकार की मौन साधना है। वह समग्रता का अनुभव है और अमूर्त का स्तर उसका बाह्य पक्ष है। उस अमूर्त को मूर्त करना रूप, प्रतिरूप द्वारा स्पष्ट है। ऐसी दृष्टि में निजी व्यक्ति को कोई स्थान नहीं है। इसी कारण जीवन के हर पक्ष को, हर इकाई को कलाकार प्रतीकात्मक रूप देने की चेष्टा करता है-चाहे वह मामल्लपुरम की गंगा हो-रेवती के मन्दिर या चोल नटराज या अनेक प्रकार की

के. रवीन्द्र

संगीत, नृत्य, नाट्य, चित्रकला आदि में परम्परा का जो अनुशासन है, वह शास्त्रबद्ध भले कर दिया गया है परन्तु उसमें बहुत सारा अव्यक्त फिर भी बचा रहता है। इसमें जो अपार स्वतंत्रता है, उसकी अनवरत तलाश ही कालजयी रचने की ओर कलाकार को प्रवृत करती है। यही साधना है।

सुन्दरी या देव-कन्या, या यक्षिकाएँ, या गृहस्थ के संस्कारों की सरस्वती, दुर्गा, काली की मूर्तियाँ या शिवलिंग-सभी विधाओं में, सभी योनियों में जीवन के प्रमुख भावों को एक निर्वैयक्तिक मूर्त रूप दिया जाता है। ...बुद्ध की अनेक प्रतिमाएँ सिद्धार्थ के पार्थिव शरीर से प्रेरित नहीं हुईं, वे प्रेरित हुई हैं बोधिसत्व और बुद्ध के बौद्धत्व से-अन्तःप्रकाश से-और उनकी प्रेरणा/ध्येय एक ही करुणा का आह्वान करना था।

इस आलोक में मूर्तिकला की हमारी परम्परा को देखें तो पाएँगे वह व्यक्त है, बहुत सारे अव्यक्त की सम्भावनाओं को समाहित किए। यह जो बहुत सारी अव्यक्त की सम्भावनाएँ हैं-उनका अन्वेषण ही प्रयोग और नवाचार है। अन्वेषण से ही कलाओं में नवीन गुणों, उत्कर्ष का नवबोध जुड़ता है। शास्त्रीय संगीत, नृत्य, नाट्य, चित्रकला, वास्तु आदि तमाम कलाओं में ऐसे ही परम्परा से मिले संस्कारों संग उनमें निहित अव्यक्त की सम्भावनाओं का आकाश देखा जा सकता है। हमारे यहाँ गणेश पूजा, सरस्वती पूजा, दुर्गा पूजा

आदि में निरन्तर कई दिनों तक चले अनुष्ठान के बाद मूर्तियों का विसर्जन किया जाता है। यही परम्परा है। परन्तु इस परम्परा में भविष्य की ही आहटें हैं। बंगाल में और अब तो भारतभर में दुर्गा पूजा की परम्परा है। नौ दिन के लिए माँ की मूर्ति की प्राण प्रतिष्ठा करते हैं। शक्ति की उपासना होती है। माँ का श्रृंगार होता है, पूजा होती है। लोग भाव-विभोर होते रहते हैं। पूजा-पर्व का अनुष्ठान जब पूर्ण हो जाता है तो यह अनिवार्य हो जाता है कि दुर्गा प्रतिमा का विसर्जन कर दिया जाए। यह जो विसर्जन है, वही परम्परा है। पर इस परम्परा में कितनी गहरी बात छुपी हुई है। विसर्जन और सर्जन। विसर्जन होगा तभी न नया सर्जन होगा। इसलिए सर्जन के लिए विसर्जन हमारे यहाँ अनिवार्य है। पेड़ पर उगे हरे पत्ते झरते हैं तभी नये पत्ते उगते हैं। मृत्यु के बाद जीवन का फिर से आरम्भ। यही जीवन चक्र है। यही परम्परा की बढ़त है। पुराने से नया और नये से और नया। कलाएँ इसी चक्र की प्रतीक हैं।

संगीत, नृत्य, नाट्य, चित्रकला आदि कलाओं में परम्परा का जो अनुशासन है, वह शास्त्रबद्ध भले कर दिया गया है परन्तु उसमें बहुत सारा अव्यक्त फिर भी बचा रहता है। इस अव्यक्त में जो अपार स्वतंत्रता है, उसकी अनवरत तलाश ही कालजयी रचने की ओर कलाकार को प्रवृत करती है। यही साधना है। जिसने इसमें अपने आपको साध लिया, वही जगचावा हुआ है। उसने परम्परा में प्रयोग और नवाचारों में विरल किया है।

इसलिए मुझे यह भी लगता है, परम्परा कितनी भी अच्छी हो, कितनी भी महत्वपूर्ण हो परन्तु उसे निरन्तरता में ही निहारें। अनुभूत करें। यदि उसमें रम गए। उसी में रच-बस गए और अपने होने की तलाश कर ली तो फिर मुक्ति सम्भव नहीं है। फिर तो बन्ध जाएँगे। इसलिए परम्परा में होते हुए भी उसका जो अव्यक्त है उसके अन्वेषण में नया रचें। अपने आपकी तलाश करें। परम्परा में आबद्ध होते हुए भी उससे मुक्ति की तलाश और जो कुछ व्यक्त है, उसमें निहित अव्यक्त की खोज ही कला का सातत्य है। हमारे जो बड़े कलाकार हुए हैं, उन्होंने यही किया है। सीखे हुए में और भी जो कुछ सम्भावनाएँ बसी हुई हैं, उसकी तलाश की। उसमें अपने होने के अन्वेषण में ही महत्वपूर्ण कुछ रचा। इसी से वह स्थापित हुए।

पंडित विद्यानिवास मिश्र ने भारतीय रागबोध पर विमर्श करते हुए कहा है कि भारतीय कला-सृष्टि, सृष्टि का पुनःस्थापन है। सृष्टि का अनुकरण है। नव सृष्टि है, जिसको ऋग्वेद में 'इयं विसृष्टिः' यानी विशेष सृष्टि कहा है। आनन्द कुमार स्वामी भी कहते हैं कि कला में हम कोई नयी रचना नहीं करते। हम इसका दावा नहीं करते कि हम कोई नई बात ला रहे हैं। कहानी पुरानी है, पात्र परिचित हैं, सब कुछ जाना हुआ है। तब हम क्या कर

बहुश्रुत मंत्र है- चरैवेति.... चरैवेति....

चलते रहें। चलते रहें। जो सभ्यताएँ चलती रहीं, उन्होंने विकास किया। जो कहीं थम गयीं, उनका विकास भी रुक गया। जल यदि बहता रहता है तभी उसकी सार्थकता है। यदि वह ठहर गया तो सड़ांध मारने लगता है। इसीलिए बुद्ध ने भी कहा, चरथ भिक्खवै चरथ। भिक्षुओं चलते रहो। यह जो चलना है, वही आगे बढ़ना है। परम्परा इसी से पुष्ट होती है, भविष्य का आलोक पथ बनती है। इस आलोक पथ का पाथेय ही प्रयोग और नवाचार है।

हमारा जो दर्शन है, वह यह मानता है कि सारे आकाश में पैदा होते हैं। आकाश में रहते हैं और आकाश में ही लीन होते हैं। योगवाशिष्ठ में तीन आकाशों के बारे में वर्णन है। एक है-भूताकाश। दूसरा चित्ताकाश और तीसरा चिदाकाश। यह तीनों ही अनन्त हैं। एक-दूसरे में समाहित। एक दूसरे से गहरे से जुड़े हुए। जितनी आपकी इच्छा हो उतनी सृष्टि रचिए। चित्ताकाश हमारे मन का अव्यक्त है। भूताकाश से ओतप्रोत। वैज्ञानिक शब्दों में कहें तो जो कुछ भूताकाश में स्पन्दन होते हैं वह चित्ताकाश में स्फुरण होते हैं। पर इन दोनों का आधार चिदाकाश है। चिदाकाश स्थायी है। उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। यह पूर्ण और चैतन्य है। यही आत्मा, परमात्मा या ब्रह्म है। यह कालातीत है। वाणी से उसे व्यक्त नहीं किया जा सकता।

कलाएँ यही कालातीत चैतन्य हैं। चित की वह अवस्था जिसमें केवल और केवल आनन्द की अनुभूति होती है। वह निर्द्वन्द्व है। कला के विविध रूप आनन्द की अभिव्यंजना हैं। सत्-चित्-आनन्द अपने आप में पूर्ण, स्थायी हैं परन्तु इस स्थायित्व में भी अपार स्वतंत्रता है। चिदाकाश नित्य मुक्त है। भूत के आकाश में ही चित्त का आकाश होता है। यही प्रकृति है। यही अव्यक्त है। और यह जो अव्यक्त है, उसी में भविष्य की तमाम सम्भावनाओं का सार है।

रहे हैं? हम जिस रूप में वह ला रहे हैं, वह नया है। अपूर्व है। पर यह अपूर्व किस रूप में है–यह अपूर्व प्रक्रिया के रूप में है। इस आलोक में मुझे यह भी लगता है कि परम्परा प्रयोग और नवाचारों की प्रक्रिया में अपूर्व होती है।

परम्परा को इस अर्थ में काल और देश से भी अभिहित किया जा सकता है। उसकी स्मृति हमारे भीतर सदा रहती है। जो सबका है, हमारा हो जाता है और जो हमारा है–सबका हो जाता है। परम्परा में फिर भी अनुभव से निरन्तर नवीन होता रहता है। अव्यक्त का व्यक्त होना ही कला है–नयापन है। पर अव्यक्त व्यक्त होता भी है तो पूरा कहाँ हो पाता है! कुछ फिर भी अव्यक्त बना रहता है।

कलाओं में यही अपूर्व होता है। किसी चित्रकृति को हमने देखा पर मन नहीं भरा। फिर से देखने का मन करता है। बार–बार उसके पास हम जाते हैं। देखते हैं फिर भी कुछ देखने से मानो रह जाता है इसलिए उसका आकर्षण बना रहता है। इसी तरह संगीत में किसी कलाकार को सुनते हैं, पूरे मनोयोग से सुनते हैं फिर भी तृप्त नहीं होते। लगता है, फिर से सुनें। कुछ जैसे सुनने से छूट गया है। ऐसे ही नृत्य की किसी भंगिमा, नाट्य के किसी दृश्य में हम इतना रम जाते हैं कि बार–बार उसे देखने को मन मचल–मचल जाता है। यह जो मचलना है, फिर से उसे देखने–सुनने की जो चाह है–वही अपूर्व है।

हमारे यहाँ कहा भी गया है– 'क्षणे–क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयताया:'। माने प्रत्येक क्षण नवीनता को जो धारण करता है वही रमणीयता का स्वरूप है। बार–बार निहारने पर, बार–बार पढ़ने पर, बार–बार सुनने में नवीनता की अनुभूति हो वही अपूर्व है और इस अपूर्वता को आत्मसात करने की प्रक्रिया ही रस है। आनन्द कुमार स्वामी के शब्दों में कहूँ तो 'नवीनता नवीन बनाने में नहीं, नवीन होने में है।' यह जो नवीन होना है, वही परम्परा में प्रयोग और नवाचार है।

भारतीय कलाओं में नाम कहीं नहीं है। कला वहाँ प्रमुख है। कलाकार गौण है। भारतीय कला इसीलिए गुप्त है, कुषाण है, शुंग कला है। पर इनमें पूरे युग की विशिष्टता की छाप है। युग के तमाम विश्वासों, उत्सव, उल्लास, संघर्ष, आपदा–विपदा और विभिन्न प्रकार के रचे मिथकों से हमारी कलाएँ इसीलिए जुड़ी हुई हैं। परम्परा में नूतनता का आविर्भाव होते ही हर युग में कलाएँ रुप बदलती रहती हैं। भारतीय चित्रकला की परम्परा, उसकी शैलियों पर नज़र डालें तो वहाँ निहित लौकिक तत्वों से भी बहुत सारा साक्षात् हमारा

नवीनता नवीन बनाने में नहीं, नवीन होने में है।' यह जो नवीन होना है, वही परम्परा में प्रयोग और नवाचार है।

अशोक भौमिक

होता है। रूप विधान, रंगों को बरतने की प्रवृत्ति के साथ रेखाओं के लालित्य में पीढ़ी दर पीढ़ी कलाकार परम्परा का परिष्कार ही तो करते मिलते हैं।

कलाभिव्यक्तियों में परम्परा तब रूढ़ि बन जाती है जब वह किसी प्रकार का 'वाद' या 'इज़्म' बन जाती है। इसी से कलाकार फिर बढ़त नहीं कर पाता है। ज़रूरी है, बन्धन से मुक्ति। जिसने कला में परम्परा के अन्वेषण में प्रयोग और नवाचारों से अपना रचा, वही आगे बढ़ा। उसकी कला को ही शाश्वत पहचान मिली। इसलिए ज़रूरी यह है कि हम कहीं ठहरें नहीं। परम्परा की उर्वरता का अन्वेषण करते उसमें प्रयोग और नवाचारों से आगे बढ़ें। कलाएँ इसी से संपन्न होंगी। जीवन को पोषित करने में समर्थ होंगी। यह लिख रहा हूँ और यामिनी कृष्णमूर्ति का कहा जैसे आलोक दे रहा है, 'नदी और नृत्य में समानता होती है। दोनों ही गति में जीवन्त होते हैं।' परम्परा के साथ भी यही है। गति के प्रयोगधर्मिता और नवाचारों की मति में ही वह जीवन्त होती आधुनिकता का वरण करती समय के साथ चलती है। कलाओं और जीवन का यही आलोक पथ है।

-drrajeshkumarvyas@gmail.com

सैयद हैदर रज़ा

अमूर्त कला एक स्थाई विधा की तरह कला में अपनी जड़ें जमा चुकी है। बल्कि अमूर्त शैली में काम करने वाले अनेक प्रमुख भारतीय कलाकार जिनमें सैयद हैदर रज़ा, वी.एस. गायतोंडे, अम्बादास, शान्ति दवे, गुलाम रसूल संतोष, सचिदा नागदेव, प्रभाकर कोलते इत्यादि शामिल हैं।

अमूर्त और अन्तर्मन

नरेन्द्र नागदेव

तीन दशक पहले मैंने अमूर्त कला पर हिन्दी और अंग्रेज़ी में आलेख लिखे थे तत्कालीन शीर्ष पत्रिकाओं 'धर्मयुग' तथा 'इलेस्ट्रेटेड वीकली ऑफ इंडिया' में। तब तक हमारे यहाँ अमूर्त कला बड़े आवेग के साथ दस्तक तो दे चुकी थी, लेकिन वह आरम्भिक दौर ही था जिसे एक तरह से परिवर्तन काल भी कह सकते हैं। मैंने तब भी आगाह किया था कि मात्र रंग बिखेर देने से और चौंका देने भर से कोई कृति कलाकृति नहीं बन जाती। उसका मूल तत्व भाव है जिसकी अनुपस्थिति में वह किसी निष्कर्ष तक नहीं पहुँचती। मैं उक्त दोनों आलेखों से कुछ छोटे उद्धरण प्रस्तुत कर रहा हूँ।

नए रास्तों की खोज में कलाकार कला के उद्देश्य से ही भटक गया। रास्तों की खोज तो जारी रही, लेकिन जाना कहाँ है, यह ध्येय ही उसके सामने से विलुप्त होता चला गया। कला का ध्येय अन्ततः भावनाओं की अभिव्यक्ति होती है। दर्शक भी उसमें अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति ही देखना चाहता है, लेकिन चित्र बनाते समय कलाकार के सामने ही ऐसी किसी अभिव्यक्ति का ध्यान नहीं रहेगा, तो अन्ततः उसका चित्र दर्शक से कुछ कह ही नहीं सकेगा।

आकृतियों की सीमा लाँघ कर भी कलाकार अपने मनोभावों को सीधे दर्शक तक पहुँचा सकता है हर्ष या विषाद सिर्फ़ भाव है। उनकी कोई आकृति नहीं होती। उन्हें पेंटिंग में रखने के लिए आकृति का सहारा ज़रूरी भी नहीं। लेकिन यहीं आ कर कलाकार रास्ता भूल गया, क्योंकि उसे कोई भाव दर्शक तक पहुँचाने की सुध ही नहीं रही। (धर्मयुग 30 जून से 6 जुलाई 1985)

तब से अब तक बहुत समय गुज़र चुका है और अमूर्त कला एक स्थाई विधा की तरह कला में अपनी जड़ें जमा चुकी है। बल्कि अमूर्त शैली में काम करने वाले अनेक प्रमुख भारतीय कलाकार जिनमें सैयद हैदर रज़ा, वी.एस. गायतोंडे, अम्बादास, शान्ति दवे, गुलाम रसूल संतोष, सचिदा नागदेव, प्रभाकर कोलते इत्यादि शामिल हैं।

ये सभी अंतरराष्ट्रीय स्तर पर भारतीय कला का परचम लहरा चुके हैं। कला की दुनिया में इनकी उपस्थिति को सहजता से स्वीकार किया जा चुका है। यह स्वीकार किया जा चुका है कि यह विधा है जो दृष्टव्य और आँखों द्वारा सत्यापित आकृतियों का निषेध कर के और उनसे परे जाकर अपना अस्तित्व स्थापित करती है। यह स्वीकार किया है कि इसमें भौतिक दुनिया के समानान्तर एक दूसरी दुनिया रची जा सकती है, जिसमें भाव, अलंकरण, रंगों और रेखाओं के माध्यम से अनुभूतियों को अंकित और स्पंदित किया जा सकता है।

सच तो यह है कि यह सभ्यता के विकास का ही चरण है। जबसे औद्योगीकरण, बाज़ारीकरण और साइबर क्रांति इत्यादि की आँधियाँ चली और पुराने मूल्य परम्पराएँ सब छिन्न-भिन्न होकर नई जीवन पद्धतियों को जगह देने लगीं, तब से स्वाभाविक ही था कि परिवर्तन और गति के साथ चलने के लिए प्रत्येक विधा अपने लिए नए रास्तों, नए उपकरणों की तलाश करे। कला के लिए अपरिहार्य था कि वह दृष्टव्य को पीछे छोड़कर अदृश्य की, भौतिक को पीछे छोड़कर आध्यात्मिक और भाव की दुनिया का सृजन करे। बल्कि नई से नई टेक्नोलॉजी का अपने पक्ष में उपयोग करने में सक्षम हो। मूर्त को छोड़कर अमूर्त के साथ एकात्म हो।

मुद्दा यह है कि उसका सबसे महत्वपूर्ण अंग भाव है। प्रस्तुतिकरण, अलंकरण वग़ैरह सब दूसरे पायदान पर हैं। कलाकार पहले किसी भाव को अपने भीतर अनुभव करता है, उससे आन्दोलित अथवा प्रेरित होता है, उसे अपनी संवेदना की छलनी से छान कर बाहर लाता है, तब जाकर वह आकारों, रंगो, तथा रेखाओं के माध्यम से कैनवास पर प्रस्तुत होती हैं। स्वाभाविक है कि आकारों और रेखाओं का संयोजन भी अब तक के परिचित-सत्यापित आकारों की सीमाओं से परे हो। लेकिन जब वे कैनवास पर उतरेंगे, तो वे कलाकार के मन के भावों से स्पंदित होकर ही उतरेंगे, और तभी एक जेन्युइन अमूर्त की रचना भी होगी। तभी दर्शक उसके सामने खड़ा होकर अपने भीतर एक भाव अनुभूति अनुभव भी करेगा। भले ही वह कलाकार की भावानुभूति से भिन्न क्यों ना हो। सिर्फ़ लाल रंग कैनवास पर फैला देने से कोई कलाकार साँझ को जीवित नहीं कर सकता, जब तक कि ढलती साँझ के सायों और एहसास को उसने अपने भीतर जिया ना हो। सिर्फ़ नीला रंग कैनवास पर फैला देने भर से कोई कलाकार समुन्दर को उपस्थित नहीं कर सकता जब तक कि उसने समुन्दर की भव्यता को अपने भीतर आन्दोलित ना होने दिया हो। तभी जाकर दर्शक भी उनके आगे खड़े होकर साँझ और समुन्दर के साथ एकात्म हो सकता है।

भाव, प्रस्तुतिकरण और शैली- यही तीनों साहित्य रचना के भी आयाम हैं। साहित्य और कला, दोनों ही अभिव्यक्ति के माध्यम हैं। अन्तर महज़ यह है कि साहित्य के पास शब्दों की भाषा है और कला के पास रंगों की। साहित्य में भी कोई घटनाक्रम लेखक को उद्वेलित करता है, फिर उसकी संवेदना से छन कर शब्दों के माध्यम से प्रस्तुत होता है। कला में सृजन प्रक्रिया वही है। साहित्य में जैसे प्रत्येक लेखक की अपनी शैली होती है, वैसे ही कला में प्रत्येक कलाकार की अपनी शैली होती है। जैसे बिना भाव और संवेदना के लिखी गई कोई रचना पाठक को आन्दोलित नहीं कर सकती, वैसे ही बिना भाव और

कला के लिए अपरिहार्य था कि वह जो दिखाई दे रहा है, को पीछे छोड़कर अदृश्य की भौतिकता को पीछे छोड़कर आध्यात्मिक और भाव की दुनिया का सृजन करे। बल्कि नई से नई टेक्नोलॉजी का अपने पक्ष में उपयोग करने में सक्षम हो। मूर्त को छोड़कर अमूर्त के साथ एकात्म हो।

अनुपम आचार्य

संवेदना के रची गई कोई कलाकृति दर्शक को आन्दोलित नहीं कर सकती। अमूर्त चित्र के आगे खड़ा दर्शक उसमें अपना कोई अन्य भाव भी ढूँढ सकता है, जो कलाकार द्वारा सम्प्रेषित भाव से अलग भी हो सकता है। भावों की कोई आकृति नहीं होती, इसलिए वे अमूर्त कैनवास पर अपेक्षित रंगों के संयोजन से ही सम्प्रेषित किए जा सकते हैं। कलाकार द्वारा कैनवास पर लगाया गया प्रत्येक स्ट्रोक उसके भीतर बह रहे भावावेग से ही संचालित होता है।

बिना भाव के रची गई कृतियाँ कैनवास पर महज रंगों और अर्थहीन आकारों का संयोजन भर होती हैं। दुर्भाग्यवश ऐसी कृतियों के धड़ल्ले से बनने और प्रदर्शित होने की सम्भावना बनी ही रहती है। कला और क्राफ्ट के बीच सिर्फ़ भाव का ही तो फ़र्क़ होता है। अमूर्त कृति को स्वाभाविक ही, रंगों में रची गई कविता कहा जा सकता है। क्योंकि अमूर्त कृति और कविता, दोनों ही कोई एक भाव सम्प्रेषित करते हैं। कहानी उसे अवश्य ही नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कहानी में अनिवार्यत: एक कथानक होता है, जो अमूर्त कृति के स्वभाव से मेल नहीं खाता। शायद यह अनायास नहीं है कि समय-समय पर अनेक कलाकारों ने कविताएँ रचीं। बल्कि कला के तो अनेक समीक्षक स्वयं प्रतिष्ठित कवि भी रहे। प्रयाग शुक्ल, विनोद भारद्वाज, अशोक वाजपेयी और वर्षा दास तो हमारे सामने ही कार्यरत रहे। अमूर्त की रचना प्रक्रिया भी बहुत अनिश्चित-सी होती है। जैसे कोई अजनबी अनचिन्ही राहों पर, अँधेरे में भटकते हुए मंज़िल पा लेना चाहे। लेकिन अजनबी राहों पर भटकना तो सृजन की एक प्राथमिक शर्त है ही। और कभी ऐसा होता है कि कोई दृश्य धुँधला होते-होते अपने आकार खोने लगे और अन्तत: अमूर्त बन जाए। यानी बाहरी दृश्यचित्र कलाकार की सम्वेदना से छनकर मन के भीतर के दृश्यचित्र में बदल जाए- आकारहीन, लेकिन भावयुक्त।

पिकासो ने कहा है कि कलाकार पहले अपने मन में साकार दृश्य की परिकल्पना करें और फिर उसमें से एक-एक कर आकृतियों को निकाल दे तो अमूर्त बन जाएगा। अर्थात अमूर्त तक पहुँचने का तरीक़ा तो प्रत्येक कलाकार का अपना-अपना हो सकता है, लेकिन मुख्य बात यह है कि उसके मन में पनपी वह अमूर्त फीलिंग उसकी सम्वेदना की गहराई से होकर उसके कैनवास तक पहुँचे। तभी वह जेनुइन होगी। तभी दर्शक के साथ उसका तादात्म्य स्थापित होगा। बिना संवेदना और भाव के, महज़ कैनवास पर बेतरतीबी से फैलाए गए रंग और टेक्सचर, कला की इस अद्‌भुत विधा का अहित ही करेंगे। पिछले कुछ दशकों ने इस विषय में हमें बहुत कुछ सिखाया है।

- nknagdeve@gmail.com

अवधेश बाजपेयी

देशज कलाओं का सच

निर्मला डोसी

कलाएँ होती क्या हैं?... उनका जन्म क्यों होता है? चिन्तन करें तो हम पाएँगे कि कलाओं का जन्म भाषा के जन्म से भी बहुत पहले हुआ था। कुछ कलाओं की जड़ें तो इतनी गहरी हैं जितनी मानवीय संवेदनाओं की अभिव्यक्ति की छटपटाहट। उसी छटपटाहट और अन्तस की बेचैनी से जन्मी थीं कलाएँ। प्रस्तर-तराशी हो या चित्रकारी, गीत हो या संगीत, साहित्य हो या नाट्यकर्म, दस्तकारी हो या शिल्पकारी या फिर अन्य प्रकार की कलाएँ, सभी का जन्म अन्दर के भावों के दबाव को प्रकट करने के लिए हुआ। दैनिक आवश्यकता भी कला के जन्म का दूसरा कारण रही।

जब अक्षर नहीं थे, भाषा नहीं थी, लिखावट की तो बात ही बेमानी है, तब मनुष्य ने अपने अन्दर की ख़ुशी या दु:ख प्रकट करने के लिए चित्र बनाए, पत्थर तराशे, ध्वनियाँ निकालीं। अनगढ़... अस्पष्ट किन्तु भावों से भरपूर। उसने अपनी दैनिक ज़रूरतों को पूरा करने के लिए पत्थरों से औज़ार बनाए। शिकार के लिए और खेती के लिए। तब वे सुगढ़ नहीं थे। कलात्मकता तो उनमें ज़रा भी नहीं थी, किन्तु उनसे काम हो जाता था। उन तमाम प्रारम्भिक आविष्कारों को सुधारने तथा परिष्कृत करते जाने का सफ़र बहुत लम्बा था। बाद में वे ही सभी कार्य अपने परिष्कृत स्वरूप में आकर कला के रूप में पहचाने गए।

वस्तुत: कलाएँ मानव के संघर्ष तथा जीवट का प्रतीक हैं और उसके प्रयोगधर्मी मानस का अक्स भी। जीने के लिए रोटी कपड़ा और आवास तीन मूल-भूत आवश्यकताओं के पूरा हो जाने के बाद भी, इंसान शान्ति से नहीं बैठा। उसने अन्न उपजाने, पकाने तथा परोसने में अनगिनत प्रयोग किए। वस्त्रों को तरह-तरह से बुना, रंगा, छापा। उन पर चित्रकारी की, सलमें-सितारे टाँके, रंगीन धागों से कशीदाकारियाँ कीं और फिर सीने में तो उसकी रचनात्मकता का अन्त ही नहीं रहा। अब बात आवास की करें तो उसे भी बनाने, रंगने सजाने तथा आपद-विपद से बचाने के उपायों में प्रयोग करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। उसका ख़ुराफ़ाती दिमाग़ बड़ा वैविध्यता-प्रिय है। इस तरह आवश्यकता का परिष्कृत स्वरूप कलाओं के रूप में पहचाना गया।

भावों की अतिरेकता कलाओं के उद्‌गम का एक और कारण है। आमतौर पर इंसान जीवन में दो तरह की अवस्थाओं से गुज़रता है। कभी सकारात्मक स्थिति में रहता है तो सब अनुकूल चलता है, तो कभी प्रतिकूलता व नकारात्मकता से अवश भी हो जाता है। यह दोनों ही अवस्थाएँ कलाओं के जन्म में सहायक होती है। ख़ुशी के वक्त अपने इष्ट के प्रति, प्रिय जनों के प्रति आभार ज्ञापित करने गीत, संगीत, नृत्य रचता है, छेनी हथौड़ी ले कोई उपहार गढ़ता है या फिर रंगों को उंडेल कर चित्र बनाता है। उसी तरह विरोधी भावों का उद्वेलन भी कला के जन्म का बायस बनता है। यह सिलसिला सदियों से जारी है।

लोक कलाओं की दुनिया बड़ी रंगीन, चकित तथा उल्लसित करने वाली है। बहुसंख्यक आबादी वाले हमारे देश के लगभग सत्तर फ़ीसदी लोग गाँवों में रहते हैं, उतनी ही भिन्नता उनकी कलाओं में भी दिखती है। पारम्परिक कलाओं की श्रेणी में वे कलाएँ आती हैं जो पीढ़ी दर पीढ़ी या गुरु शिष्य परम्परा के अन्तर्गत हस्तान्तरित की जाती रही है। इन कलाओं का इतिहास सैकड़ों-हज़ारों बरस पुराना हो सकता है। विस्मृति, बिखराव और उपभोग के समय में भी कलाएँ प्रतिरोध की ज़मीं को सींचती हैं।

भारत की हस्तकलाओं के क्षेत्र की पड़ताल करें तो कुछ कलाएँ समृद्ध कलाओं की श्रेणी में वर्षों से खड़ी हैं। वे एक नहीं अनेक कलाएँ हैं उनमें कश्मीर की पश्मिना बुनाई और पेपरमेशे, पंजाब की फुलकारी राजस्थान की फड़ चित्रकारी व बाँधनी, उड़ीसा की प्रस्तर कला, पट- चित्रकारी, बंगाल का कांथा व बालु चेरी साड़ी बुनाई, असम की मिसिंग मीरी मेखला बुनाई, नागालैंड की शाल बुनाई मणिपुर का टेराकोटा

तथा बाँस का काम, महाराष्ट्र की पैंठणी साड़ी बुनाई, गुजरात की बाँधनी छपाई, कर्नाटक के धातु शिल्प, तमिलनाडु की कांचीपुरम साड़ी, आंध्र की कलमकारी इत्यादि कलाओं ने विकास के शिखर छुए, विदेशों में देश का मान बढ़ाया तथा वे अपने-अपने क्षेत्र की पहचान बनीं। जिन कलाओं की राह में उतार-चढ़ाव आए, उनमें बंगाल की मलमल बुनाई, असम की सिल्क बुनाई, पाटन का पाटन-पटोला, राजस्थान की कोटा ज़री बुनाई, आंध्र का काँस काम इत्यादि कलाएँ आख़िरी साँसें गिन रही थीं फिर उनमें नए प्रयोग किए गए, समय के साथ थोड़ा बदलाव लाया गया, कुछ सहृदय लोगों के हाथ बढे, समाधान निकाले गए, विमर्श हुआ और उन कलाओं को फिर से जीवनदान मिला। वे फलने फूलने लगीं।

कुछ दुर्लभ श्रेणी की कलाएँ विलुप्त हो गईं। उसके अनेक कारण थे। जैसे राजस्थान बीकानेर की उस्ता कला के मात्र दो-तीन वरिष्ठ कलाकार बचे हैं जो उस्ता कला के विलुप्त हो जाने का कारण बताते हैं कि उस्ता कोरणी सोने चाँदी के पानी से की जाती है, जो पहले ऊँट की खाल पर सजावटी वस्तुएँ बनाने के लिए तथा महलों मन्दिरों की दीवारों पर तथा तस्वीरों में की जाती थी। जिसे करवाना राजा महाराजाओं या अमीर उमरावों के ही बस की बात थी। धातुओं के भाव आसमान छूने लगे और आधुनिक तरह के निर्माण के प्रति बढ़ता रुझान कला के अवसान का कारण बना। सभी चित्र शैलियों से अलग दिखने वाली 'रोगन चित्रकारी' का एक परिवार ही बचा है पर उसके भाग्य में फिर से चमकना बदा था। उसकी कलाकृति को राज नायकों द्वारा विदेश में उपहार देने के लिए चुना गया। तब से कच्छ के निरोना गाँव की रोगन कला फिर से साँसें लेने लगी। महेश्वर बुनाई मध्य प्रदेश में रानी अहिल्याबाई होल्कर के प्रयासों से, बंगाल की बाटिक छपाई और कांथा काम गुरुदेव रबीन्द्रनाथ ठाकुर के प्रयासों से पुनः प्रतिष्ठित हुए। आज उन कलाओं का वैभव देखते ही बनता है। जिन कलाकार्यों में समय के अनुरूप प्रयोग हुए और उनका नवीनीकरण होता रहा, वे विकास करती गईं।

बाँधनी कला के वस्त्रों का चार हज़ार साल पहले की हड़प्पा सभ्यता के अवशेषों में पाया जाना सिद्ध करता है कि यह कला कितनी पुरानी है। जब करंसी नहीं थी, चीज़ों की अदला-बदली से जीवन यापन हुआ करता था। जैसे रेबारी चरवाहों को एक वस्त्र देते बदले में उसे एक घेटा अथार्थ भेड़ बकरी या गाय ले लेते। किसी का कपड़ा रंग दिया बदले में धान ले लिया। उस वक़्त ना बाज़ार था ना दुकानें। कुछ लोग किसी एक क़ौम का काम करते, तो कुछ लोग किसी दूसरी क़ौम का। यह वह वक़्त था जब हर क़ौम जाति और पेशे के लोगों को उनके लिए निर्धारित वस्त्र पहनने ज़रूरी होते थे। चरवाहे, रेबारी, भरवाड़, बनिए और कई क़ौमों के लिए अलग-अलग तरह के वस्त्र अलग-अलग लोग

बनाते थे। साफ़ा, धोती, ओढ़नी वग़ैरह से उनकी जाति की पहचान हुआ करती। विशेषत: पगड़ी और वह भी विशेष प्रकार की पहननी ज़रूरी होती। यह नहीं कि जो मन-चाहा वही पहन लिया। इस तरह के विभिन्न तरह के वस्त्रों की छपाई का काम होता और आज भी हो रहा है।

आधुनिक समाज इसे रूढ़िवादी सोच भले कहे, दरअसल वे लोग कितने दूरन्देशी रहे होंगे जिन्होंने कलाओं को परम्परा के साथ जोड़ दिया और उसी दूर दृष्टि का परिणाम है कि कुछ कलाएँ बड़े उत्साह के साथ अपनायी गईं बल्कि उनमें नित नए प्रयोग हो रहे हैं तथा नए फ़ैशन का पर्याय भी बन रही हैं। गुजरात में शादी ब्याह में दुल्हन को 'घाटचोला' या 'पानेतर' पहनना ज़रूरी है, तो राजस्थान में भाई, भाँजे-भाँजी के विवाह पर भात भरने जाता है तो बाँधनी छपाई की लाल साड़ी बहन को अनिवार्य रूप से ओढ़ाता है। सद्य: प्रसवा माँ को बच्चे के नामकरण के दिन पीले रंग की बाँधनी पहननी ज़रूरी है और इसलिए ही इस तरह की छपाई हज़ारों वर्षों से अब तक हो रही है। राजस्थान में तो दूल्हे का साफ़ा भी बाँधनी का बाँधा जाता है। यह सारी व्यवस्था जातिगत भेदभाव के लिए क़तई नहीं थी। गाँवों में रोज़गार के अवसर मिलते रहें और कला परम्परा भी बनी रहे। राजस्थान के चित्तौड़गढ़ में अकोला गाँव में डाबू छपाई का काम होता है। वहाँ औरतों के लिए विवाह के समय पहने जाने वाले जोड़े को 'भेटिया' कहा जाता है। ग्यारह मीटर का घाघरा और ऊपर चूंदड़ी जाट जाति में आवश्यक रूप से नव वधू को पहनना होगा, भले वो विदेश प्रवासी ही क्यों न हो। आज भी अकोला में वैसा जोड़ा बनता है। 'डाबू कला' को बचाने में मेवाड़ की रानी राठौड़जी ने बेदूच नदी के किनारे छपाई के कारीगरों के लिए गाँव बसाया क्योंकि इस कलाकार्य में ज़्यादा पानी की ज़रूरत होती है। वहाँ आज भी दो-ढाई सौ कारीगर काम करते हैं। इस तरह कला को बचाने में राज्याश्रय भी रहा और परम्परा भी।

हस्तकलाओं का विकसित संसार निरन्तर प्रयोगों का फलित है। यह हैरत की बात है कि वर्षों पहले जब पर्यावरण में प्रदूषण की कोई हलचल नहीं थी तभी से ये हस्तकलाएँ प्रकृति का संतुलन बिगाड़ने की जगह उसके लिए सहायक सिद्ध हुआ करती थीं। यद्यपि हस्तशिल्प के अधिकांश संसाधन प्रकृति से लिए जाते हैं पर वे ही लिए जाते हैं जो अवशिष्ट होते हैं। कुछ उपादान यदि लिए भी जाते हैं, तो जितना लिया जाता है उससे ज़्यादा लौटाना उन लोगों के स्वभाव में होता है। प्रकृति के प्रति श्रद्धा का भाव इसका कारण रहा होगा। कपड़ों की बुनाई के लिए रेशम सूत, ऊन सब प्रकृति देती है। रंगाई के लिए प्रयुक्त चीज़ें भी जंगल और खेतों से लेते हैं। लकड़ी उन्हीं पेड़ों की लेते हैं जो मर जाते हैं। फूल-पत्ते-फल स्वयं हवाओं से गिर जाते हैं या अपनी उम्र पूरी कर लेते हैं तब उन्हें लिया जाता है। रंगाई छपाई के लिए ख़ूब पानी की ज़रूरत होती पर सारा काम प्राकृतिक उपादानों से होता तो वही पानी खेतों में जाकर उपज बढ़ा देता जमीन को और ज़्यादा उर्वर बना देता। खेतों में कभी रासायनिक चीज़ों का प्रयोग करने की तो जानकारी ही नहीं थी। छोटी-मोटी खेती सम्बन्धी समस्याओं का समाधान घरेलू चीज़ों से ही कर लिया जाता। इस तरह से भारत के हस्तशिल्प पर्यावरण को शुद्ध रखने का एक प्रयोग हुआ करते थे।

एक समय था जब शिक्षा का प्रकाश गाँव के कोनों तक नहीं पहुँचा था। यातायात के साधन भी उपलब्ध नहीं थे। तब मनुष्य अपने ही घर में रहकर जीवन यापन करने को विवश था। इस पर भी उसका रचनाधर्मी मस्तिष्क कुछ न कुछ नए प्रयोग रोज़ किया करता। कई बार परिणाम सकारात्मक मिलते, तो कई बार श्रम व्यर्थ जाता पर उसने अपनी कलाओं के साथ प्रयोग करना कभी

लोक और जनजातीय कलाओं में प्रकृति उनकी प्रयोगशाला रही है। हस्तकलाओं का विकसित संसार निरन्तर प्रयोगों का फलित है। यह हैरत की बात है कि वर्षों पहले जब पर्यावरण में प्रदूषण की कोई हलचल नहीं थी तभी से ये हस्तकलाएँ प्रकृति का संतुलन बिगाड़ने की जगह उसके लिए सहायक सिद्ध हुआ करती थीं।

नहीं छोड़ा। बस्तर का आदिवासी इलाका कलाओं का गढ़ है वहाँ का ढोकरा, गढ़वा और लौह काम ने रचनात्मक सौंदर्य के नए मानक गढ़ें हैं। मुम्बई में ताज होटल में हुए आतंकवादियों के हमले व आगजनी के समय भी वहाँ बस्तर के शिल्प गुरु जयदेव बघेल जी का ढोकरा काम का एक बेशक़ीमती शाहकार रखा हुआ था, उसके बारे में ख़ूब चर्चा हो रही थी और चिन्ता भी हो रही थी। पिछले दिनों मुंबई के प्रिंस ऑफ वेल्स म्यूज़ियम के कुमार स्वामी हॉल में भारतीय हस्तशिल्प की प्रदर्शनी में भी जयदेव जी की एक अनुपम ढोकरा कलाकृति दर्शकों के आकर्षण बनी हुई थी।

बान की खटिया पर कृषकाय वृद्ध जोड़ा बैठा था उनका वेश विन्यास, देहभंगिमा, चेहरे पर पड़ी झुर्रियाँ, हाथों की फूली नसें, महिला के नाक की नथनी का मोती, सिर पर पड़ा पल्लू, पुरुष की बेतरतीब पग्गड़ की हर सलवट, यहाँ तक कि उनके पाँव की फूली मांसपेशियाँ सब कुछ एक पूरे समय को साकार करने में वह डेढ़ दो फुट की ढोकरा कला में ढली आकृति सक्षम थी। उस कलाकृति पर टैग लगा था दो लाख दस हज़ार रुपए। बघेल जी से बनाने की प्रक्रिया पूछी तो सुनकर ही पसीना आ गया और यह ख़्याल तो सिरे से ही गुम हो गया कि 'इसके दाम इतने ज़्यादा क्यों है'। कितना श्रम कितना समय कितने आयामों से निकलने के लिए कितने सारे लोग लगे तब ऐसा शाहकार साकार हुआ होगा, जो मुम्बई के प्रिंस ऑफ वेल्स म्यूज़ियम की प्रदर्शनी में रखा जा सके, जो कि कला प्रेमियों का काबा है। कारीगर के पास अपने पुरखों का दिया फार्मूला था जो शत-प्रतिशत प्रमाणित है। किन्तु उनके पुरखों ने कितने प्रयोग किए, कितना धैर्य साधा, कितना समय लगाया तब कहीं जाकर वे उसे अपनी कला में उतार पाए होंगे। वह कोई डायरी में लिखा हुआ 'टू प्लस टू' का फार्मूला तो था नहीं।

बस्तर का आदिवासी इलाका कलाओं का गढ़ है। इन कामों में जो सामग्री प्रयुक्त होती है वह सुनकर कोई भी दंग रह जाएगा। नदी किनारे की मिट्टी से मोल्ड बनाकर उस पर दीमकों की ढुहों की मुलायम मिट्टी की परत चढ़ाते हैं। मोम का प्रयोग होता है वह भी मधुमक्खियों के छातों से शहद निकाल लेने के उपरान्त बेकार हो जाने वाली चीज़ है। यह सारे फ़ार्मूले इन कलाकारों के पुरखों को भी किसी किताब में लिखे हुए नहीं मिले थे। न जाने उन्होंने कितने-कितने प्रयोग किए होंगे और तब उन्हें कलाओं में उतारा होगा, और ऐसा उतारा कि आज ये लोग उस फ़ार्मूले को छोड़कर नया अपनाने का जोखिम लेना नहीं चाहते। आकार-प्रकार में नवाचार करते हैं किन्तु काम पारम्परिक तरीक़े से ही करते हैं। केसर की सुगंध और स्वाद से कौन परिचित नहीं है। उसी केसर से राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त जयपुर के 'बादशाह मियाँ' एक लहरिये की साड़ी रंगते हैं। अब तक वे छपाई-रंगाई में प्राकृतिक रंगों का ही उपयोग करते रहे हैं। इस बार उन्हें कला उत्सव के लिए अमेरिका में अपने देश की समृद्ध कला का परचम फहराना था। चालीस ग्राम रेशम की बेहद बारीक बुनावट की साड़ी पर आधा किलो शुद्ध केसर से की गई लहरियाँ छपाई के बाद चटख केसरी रंग की आब देखते ही बनती थी। उस केसरिया साड़ी को छू कर, सूँघ कर, देखना ही रोमांचित कर गया। इस तरह की नायाब और नफ़ीस चीज़ें न जाने कितने प्रयोगों के उपरान्त बनती हैं।

अब समय बदल रहा है। गाँवों और शहरों के बीच आवा-जाही बढ़ गई है। लोक कलाओं का बाज़ार भी अच्छा ख़ासा है। निर्यात की सम्भावनाएँ हैं। शहरों में अक्सर प्रदर्शनियों के कारण कलाकार आते रहते हैं तो वह शहरी रुझान और नए फैशन से भी परिचित होते हैं। अगली बार के लिए ग्राहकों के अनुसार अपनी चीज़ों में बदलाव ले आते हैं। ऐसे नवाचार को अपनाना ज़रूरी है। वे दैनिक प्रयोग की चीज़ों में कलाओं का समावेश कर लेते हैं। रंग भी मौसम के अनुसार और शहरी टेस्ट के अनुसार बदलते हैं। कलाकार बख़ूबी जानते हैं यदि वे ज़माने के अनुसार स्वयं को नहीं बदलेंगे तो उनकी कला बिकेगी नहीं, फिर बचेगी कैसे!

- nirmaladoshi1953@gmail.com

भारतीय चित्रकला के इतिहास में एक लम्बे समय तक चित्रकार की भूमिका, शिल्पकार या क्राफ्ट्समैन की रही है। शिल्पकार और चित्रकार में मूलभूत अन्तर उनके रचने की स्वतंत्रता में निहित है। चित्रकला वास्तव में एक चित्रकार की स्वतंत्र अभिव्यक्ति होती है अर्थात, वह स्वयं यह तय करता है कि चित्र में उसे 'क्या' बनाना है, साथ ही वह यह भी तय करता है कि उसे चित्र 'कैसे' बनाना है। चित्र रचना की प्रक्रिया में ये दोनों पक्ष स्वतंत्र और समान रूप से महत्वपूर्ण होते हैं जिसे एक चित्रकार स्वयं तय करता है और इस प्रकार चित्रकार के अस्तित्व के साथ 'स्वतंत्रता' अनिवार्य रूप से जुड़ी रहती है। सृजन के पहले स्तर पर, चित्रकार अपने जीवन के अनुभवों, विचारों और दृष्टि से एक चित्र की कल्पना करता है। यह प्रक्रिया कभी जटिल और लम्बी होती है, तो कभी सरल और स्वत:स्फूर्त।

चित्रकला में सृजन का यह पक्ष आम दर्शकों से अदृश्य होता है। रचना के दूसरे स्तर पर चित्रकार अपने अर्जित 'कौशल' से अपनी कल्पना को रूप देने का प्रयास करता है। इस प्रक्रिया में चित्रकार अपने चिन्तन और अमूर्त कल्पना को अपने चित्र में मूर्त करते हुए, उसे एक 'मुहूर्त' या 'ठहरे हुए क्षण' में तब्दील कर देता है। चित्र में जो कुछ दृश्य होता है, वह चित्रकार की रेखाओं, संरचना, रंग संयोजन, प्रकाश व्यवस्था आदि के मौलिक और संतुलित प्रयोग से आकर्षक हो उठता है। लेकिन यहाँ हमें इस सत्य पर भी ध्यान देना चाहिए

चित्रकला का लोकतंत्र

अशोक भौमिक

किसी भी सभ्य समाज में, चित्रकला का लोकतान्त्रिक होना बहुत ज़रूरी है क्योंकि छोटे से दायरे में बाँधकर किसी भी कलाकार का सही मूल्यांकन सम्भव नहीं होता। जहाँ तक सवाल प्रयोग का है तो किसी भी कला में 'प्रयोग' का एक विशेष महत्व होता है और इससे गुज़रते हुए ही कला में विकास संभव हो पाता है। लेकिन इसके लिए न केवल प्रयोग का उद्देश्य स्पष्ट होना चाहिए बल्कि उसे मौलिक भी होना चाहिए।

शिव: चित्र असित हालदार

भारत माता: चित्र अबनींद्रनाथ ठाकुर

कि एक चित्र, चित्रकार की उत्कृष्ट कल्पना और कौशल के बावजूद दर्शकों की प्रतिक्रिया समान नहीं होती है और एक चित्र अपने सभी दर्शकों में समान 'अनुभूति' नहीं पैदा कर सकता। अर्थात चित्रकार को जिस प्रकार रचने की स्वतंत्रता होती है ठीक उसी प्रकार दर्शक को किसी चित्र को स्वीकार या अस्वीकार करने की आज़ादी होती है। सृजन की इस धारा से भिन्न भारतीय चित्रकला (मूर्तिकला) में कलाकारों को यह स्वतंत्रता नहीं मिली कि वह ये तय कर सकें कि उसे 'क्या' बनाना है। उदाहरण के लिए, अजन्ता-खजुराहो-कोणार्क आदि के चित्र और मूर्तियों की कल्पना किसी और के द्वारा की गई थी जिसके निर्देश पर कलाकारों ने अपने कठिन श्रम और उत्कृष्ट कौशल से इन ऐतिहासिक कलाकृतियों का निर्माण किया था। इस प्रकार ये चित्रकार-मूर्तिकार निस्संदेह उच्च कोटि के कारीगर शिल्पकार या क्राफ्ट्समैन थे लेकिन उन्हें सृजन की स्वतंत्रता नहीं थी। उदाहरण के लिए, अजन्ता, भरहुत, साँची में बुद्ध के जीवन से जुड़ी हुई जिन कथाओं का चित्रण है, वह पूरी तरह से धर्म संस्थान द्वारा प्रायोजित, एक पूर्व निर्धारित उद्देश्य को मूर्त करने के लिए बनी कला है जहाँ कलाकारों के 'कौशल' का बख़ूबी इस्तेमाल किया गया है लेकिन इन कृतियों के विषय चयन में कलाकारों की कोई भूमिका नहीं थी। दूसरी ओर दर्शक को भी यह स्वतंत्रता नहीं थी कि वह अपने ढंग से किसी चित्र को देखे या अनुभव करे। चित्र के बाहर, कथा-सन्दर्भों और व्याख्याओं से दर्शकों को परिचित कराया जाता था और उसी के दायरे में ही दर्शक, चित्र देखने को बाध्य होते थे।

भारतीय चित्रकला के सम्दर्भ में परम्परा, प्रयोग और नवाचार को समझने के लिए उपरोक्त पहलुओं पर ध्यान देना ज़रूरी है।

***

भारतीय चित्रकला के सन्दर्भ में हम मोटे तौर पर तीन चित्रकला धाराओं को चिह्नित कर सकते हैं। आज की भारतीय चित्रकला में आदिवासी कला, लोक कला और शहरी कला धाराएँ समान रुप से अस्तित्तव में हैं। आदिवासी और लोक कलाओं में जहाँ परम्परा से जुड़े रहना उनकी पहचान होती है, वहीं शहरी कलाकारों का अस्तित्तव उनके उन्मुक्त होने में होता है। एक शहरी चित्रकार अपनी रचनाओं में फॉर्म, संरचना और रंग संयोजन आदि के मौलिक प्रयोग से अपनी व्यक्तिगत पहचान बनाता है और उसी विशिष्ट पहचान के कारण ही वह 'सफल' और 'महत्वपूर्ण' कलाकार के रुप में जाना जाता है। इसके विपरीत जो अपनी रचनाओं में इस विशेषता को स्थापित नहीं कर पाते, वे गौण मान लिए जाते हैं। विश्व भर में नगरीय चित्रकला को व्यक्तिगत शिल्पकर्म के रुप में जाना गया है लेकिन, युगों से राज्य और धर्म संस्थानों द्वारा

संचालित चित्र एवं मूर्तिकला मूलतः सामूहिक कलाकर्म ही रही है जहाँ कृति के साथ कलाकारों का उल्लेख नहीं होता बल्कि वे कृतियाँ, उनके प्रायोजकों के नाम से ही जानी जाती हैं। लम्बे समय तक भारतीय चित्रकला, एक सामूहिक शिल्पकर्म रहा है। अजन्ता, एलोरा, भरहुत, खजुराहो, कोणार्क जैसी भारतीय चित्रकला और मूर्तिकला की उत्कृष्ट कृतियों में हम इस 'सामूहिकता' को स्पष्ट देख पाते हैं। भारतीय कला के इस दौर में वास्तु या भवन निर्माण कला में ही मूर्तिकला और चित्रकला अभिन्न रुप से जुड़ी रही है लेकिन समय गुज़रने के साथ-साथ तीन बातें हमें स्पष्ट दिखाई पड़ती हैं। पहला कृतियों का आकार छोटा होना (भित्ति चित्रों से लघु चित्रों की ओर जाना)। दूसरा, वास्तु या भवन निर्माण कला से चित्रकला का स्वतंत्र होना और तीसरा चित्रकला का 'सामूहिक' से 'व्यक्तिगत' कलाकर्म की ओर बढ़ना।

यहाँ हम यह भी देख पाते हैं कि सामूहिक सृजन न केवल भारतीय चित्रकला के केन्द्र में रहा है, बल्कि कलाकृतियों के निर्माण का उद्देश्य सार्वजनिक प्रदर्शन था, अर्थात एक ही वक़्त में अनेक जन एक साथ किसी कृति को देख सकें, इसका प्रयास था। भारतीय चित्रकला में भित्ति चित्र से लघु चित्र का विकास, सामूहिकता से व्यक्ति केन्द्रित चित्रकला की विकास यात्रा है। समय गुज़रने के साथ-साथ चित्रकला, एक व्यक्ति या बेहद छोटे समूह (जो प्रायः राजा और उनके आसपास के लोगों तक सीमित थे) के लिए समर्पित कलाकर्म के रूप में विकसित होती दिखी। मुग़ल काल की चित्रशालाओं में हालाँकि कई चित्रकारों को एक साथ काम करते हुए देखा जा सकता है लेकिन चित्रकारों पर शैलीगत दबाव के कारण किसी चित्रकार को उसकी विशेषताओं

अजन्ता-खजुराहो-कोणार्क आदि के चित्र और मूर्तियों की कल्पना किसी और के द्वारा की गई थी जिसके निर्देश पर कलाकारों ने अपने कठिन श्रम और उत्कृष्ट कौशल से इन ऐतिहासिक कलाकृतियों का निर्माण किया था। इस प्रकार ये चित्रकार-मूर्तिकार निस्संदेह उच्च कोटि के कारीगर शिल्पकार या क्राफ्ट्समैन थे लेकिन उन्हें सृजन की स्वतंत्रता नहीं थी।

के आधार पर स्वतंत्र रूप से चिह्नित नहीं कर पाते। मुग़ल काल के बाद कई स्थानीय शासकों ने अपने दरबार में चित्रकारों को नियुक्त किया, जिन्होंने मूलत: अपने अन्नदाताओं के जीवन की आम और ख़ास घटनाओं के चित्रण तक ही अपनी कला को सीमित रखा। हालाँकि इसके बावजूद, इस दौर में हम भारतीय चित्रकला में सामूहिक सृजन की परम्परा से निकलकर, चित्रकार को एक स्वतंत्र रचनाकार के रूप में विकसित होते हुए पाते हैं। चित्रों को, उनके चित्रकारों के साथ जोड़कर देखने की परम्परा की शुरूआत को हम मुग़ल काल और उसके बाद स्थानीय शासकों के दरबारी कलाकारों में देख सकते हैं।

भारतीय चित्रकला के विकास क्रम में एक स्वतंत्र चित्रकार का अस्तित्व में आना निस्संदेह एक बड़ी बात है। अपनी कलाकृति पर हस्ताक्षर करने का चलन मुग़ल काल से (कुछ हद तक दबे-छुपे) दिखने लगा था लेकिन यह कभी भी चित्र के साथ अनिवार्य रूप से नहीं जुड़ा था।

भारतीय चित्रकला में 'कंपनी स्कूल' के एक महत्वपूर्ण उदाहरण के रूप में लेडी मेरी इम्पे द्वारा अपने भारत प्रवास के दौरान (1777 से 1782) बनवायी गई पशु-पक्षियों के चित्रों की शृंखला मिलती है, जहाँ उनके द्वारा नियुक्त किये गए तीन चित्रकारों शेख़ जैन-अल दीन, भवानी दास और रामदास के हस्ताक्षर उनकी कृतियों के साथ जुड़े हुए हैं। कुछ हद तक, लेडी इम्पे की इस शृंखला से ही भारत में चित्रों के चित्रकारों द्वारा हस्ताक्षरित होने की परम्परा की 'विधिवत' शुरूआत मानी जा सकती है। चित्र में हस्ताक्षर का महत्व इसलिए भी है कि चित्र के अच्छे या बुरे होने की पूरी ज़िम्मेदारी, चित्रकार अपने ऊपर लेता है।

विश्व भर में चित्रकला में 'प्रयोग' का उद्देश्य, प्राय: अपने समकालीनों से भिन्न, अपनी एक स्वतंत्र पहचान बनाने का रहा है। लोक और आदिवासी चित्रकला में चित्रकार की पहचान का कोई महत्व नहीं होता, वहाँ एक प्रांत विशेष की कला की शैलीगत विशेषता को बनाये रखने का आग्रह सर्वोपरि होता है। साथ ही इनकी रचनाएँ प्राय: किसी प्रान्त विशेष के सामाजिक या धार्मिक रस्म-रिवाज़ों से गहरे जुड़ी होती हैं इसलिए इनमें स्थापित प्रतीकों की पुनरावृत्ति अनिवार्य रूप से देखी जा सकती है। लोक और आदिवासी कलाओं की पहचान, उनकी अपनी परम्परा से सघन रूप से जुड़े रहकर उसे आगे बढ़ाने में है। उदाहरण के लिए वारली, मधुबनी और गोंड जैसे कला रूपों को यदि देखा जाय तो हम देख सकते हैं कि उनकी शैली ही उनकी पहचान है और जो सदियों से अपरिवर्तनीय रही है।

जुड़ाव भी, नकार भी

आधुनिक भारतीय चित्रकला पर बार-बार अपनी परम्परा या जड़ों से कटे होने का आरोप लगता है। बीसवीं सदी के आरम्भिक वर्षों में बंगाल स्कूल के कलाकारों ने चित्रकला में 'भारतीयता' की खोज करते हुए भारतीय कला के इतिहास को समझने की कोशिश की थी। इस कोशिश में चार सौ वर्ष पहले मुग़ल लघु चित्रों का गम्भीर विश्लेषण करने के बजाय उन्होंने सहज 'अनुकरण' का रास्ता लिया। इस तथ्य को अबनींद्रनाथ ठाकुर के चित्र 'शाहजहाँ की मृत्यु' को देखकर सहज ही समझा जा सकता है। अपनी परम्परा की खोज में, बंगाल स्कूल के कलाकारों ने अजन्ता और बाघ की गुफ़ाओं की भी यात्रा की थी और वहाँ के भित्ति चित्रों का अध्ययन किया था लेकिन इसके परिणाम में भी अजंता शैली का अनुकरण ही दिखा। असित कुमार हालदार के चित्रों में हम इस प्रभाव को स्पष्ट देख सकते हैं वास्तव में, चित्रकला में परम्परा के साथ जुड़ने का अर्थ केवल रूप या फॉर्म के साथ ही जुड़ना नहीं होता; अंतर्वस्तु या कंटेंट से मुक्त होना और नए विषय को तलाशना भी आवश्यक होता है। बंगाल स्कूल के कलाकार, अजन्ता की कला से रूप और अंतर्वस्तु को अलग नहीं कर सके और एक शताब्दी ईसा पूर्व, देवालय के लिए बनाए गए अजंता के चित्रों को बीसवीं सदी के आधुनिक कलकत्ते शहर में बैठे अनुकरण करने का अवैज्ञानिक प्रयास किया गया। ऐसा ही कुछ, हमें अबनींद्रनाथ ठाकुर के चित्रों में भी दिखता है। देवी देवताओं की लीला कथाओं पर बनाए गए चित्रों की भारतीय परम्परा ने उन्हें वर्तमान से काट दिया। बंगाल के नवजागरण काल के बीच खड़े और बंगाल के विभाजन जैसी राजनैतिक उथल-पुथल भरे समय में कार्यरत इन चित्रकारों के चित्रों में उनका समय और समाज ग़ैर-हाज़िर रहा। आगे चलकर इसी परम्परा के साथ, अमृता शेरगिल समकालीन अन्तर्वस्तु को जोड़ती हुई 'भारत माता' जैसा चित्र बना पाती हैं, जबकि अबनींद्रनाथ ठाकुर की 'भारत माता' में एक कल्पित कथा को चित्रित करने का प्रयास दिखता है। इन दोनों चित्रों को आस-पास रखकर हम चित्रकला में परम्परा से जुड़ने या उसे नकारने के अर्थ को समझ सकते हैं।

किसी भी कला में 'प्रयोग' का एक विशेष महत्व होता है और इससे गुज़रते हुए ही कला में विकास सम्भव हो पाता है। लेकिन इसके लिए न केवल प्रयोग का उद्देश्य स्पष्ट होना चाहिए बल्कि उसे मौलिक भी होना चाहिए। चालीस के दशक से, भारतीय चित्रकला में व्यापक परिवर्तन दिखाई देने लगे थे। बड़ी संख्या में चित्रकार नए फॉर्म की तलाश में विभिन्न प्रयोग करते दिखे लेकिन लगभग ऐसे सभी प्रयोग न केवल उद्देश्यहीन थे बल्कि यूरोप की कला का कोरा अनुकरण थे। हालाँकि ऐसे अनुकरणों को प्रयोग का नाम देकर भारत के कला समीक्षकों ने इसे स्थापित करने का प्रयास अवश्य किया था।

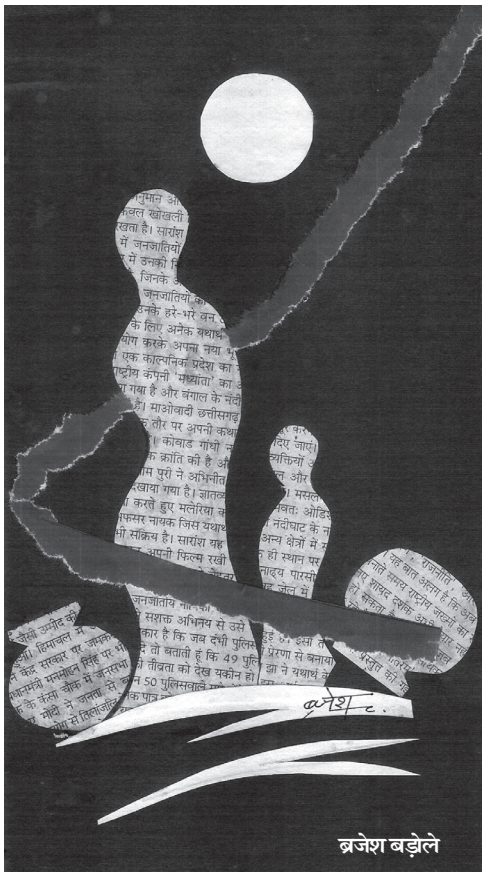
ब्रजेश बड़ोले

इसी क्रम में आज़ादी के बाद प्रयोग के नाम पर पश्चिम की चित्रकला का अनुकरण करते हुए एक नये दौर के रूप में भारतीय चित्रकला में 'अमूर्तन' का आगमन दिखा और शीघ्र ही आम भारतीयों के लिए चित्रकला में अमूर्तन, आधुनिकता का पर्याय बन गया। चूँकि भारतीय कला परम्परा में अमूर्तन का कोई स्थान नहीं था, शहरी बुद्धिजीवियों और कलाप्रेमियों के एक छोटे से वर्ग को इसके 'नयेपन' ने सहज ही आकर्षित किया। साथ ही, अमूर्त चित्रकला ने भारतीय चित्रकला समीक्षा को एक नया मोड़ भी दिया जहाँ लगभग सभी भारतीय भाषाओं में कवियों ने, अमूर्त चित्रकला की समीक्षा को अपना क्षेत्र मान लिया। चित्रकला समीक्षा के नाम पर ऐसे कवि-समीक्षकों के बीच, कला प्रेमियों को चित्र के अन्दर छिपे तमाम अदृश्य तत्वों को समझने-समझाने के अभिनव प्रयासों की होड़ सी लग गयी। इन जटिल और दुरूह समीक्षाओं ने न केवल आमजन को चित्र कला से दूर कर दिया बल्कि इसने औसत प्रतिभा वाले चित्रकारों के एक बड़े वर्ग को चित्रकला में महत्वपूर्ण बना दिया। संयोग से यह दौर भारत में कला बाज़ार के विकास का भी था इसलिए भारत के शहरी अभिजात और आर्थिक रूप से संपन्न वर्ग के बीच अमूर्त चित्रकला ने अपना स्थान बना लिया।

भारतीय चित्रकला में ऐसे आधारहीन अमूर्तन ने व्यापक 'पुनरावृत्ति' की भी शुरुआत की। आज़ादी के बाद की चित्रकला का यह ऐसा पक्ष था जिसकी आलोचना किसी भी समीक्षक ने नहीं की बल्कि नयी-नयी व्याख्याओं से इसे जायज़ ठहराने की कोशिश होती दिखी। यह कहना गलत नहीं होगा कि आज लगभग हर सफल भारतीय चित्रकार का अस्तित्व, उसके अपने ही (व्यावसायिक रूप से) सफल चित्रों की बड़ी संख्या में पुनरावृत्ति करने की क्षमता पर टिका हुआ है।

ऐसी स्थिति में भारतीय चित्रकला के सन्दर्भ में प्रयोग और नवाचार कुछ हद तक बेमानी से लगते हैं। किसी रचना के सफल या असफल होने के कई कारण हो सकते हैं लेकिन किसी रचना के लिए मौलिक और ईमानदार होना इसकी प्राथमिक शर्त होती है। साथ ही किसी भी सभ्य समाज में, चित्रकला का लोकतान्त्रिक होना बहुत ज़रूरी है क्योंकि छोटे से दायरे में बाँधकर किसी भी कलाकार का सही मूल्यांकन सम्भव नहीं होता। मेट्रो शहरों की कुछ गैलरियों और कुछ एलीट कला शिक्षण संस्थानों तक सीमित रहकर कला को थोड़े समय के लिए मनचाहे ढंग से संचालित किया जा सकता है लेकिन इतिहास में इनका दर्जा एक 'फैशन' से ज़्यादा नहीं होता है। किसी समाज में, चित्रकला का निरन्तर विस्तार होना एक स्वाभाविक और वैज्ञानिक प्रक्रिया है इसके विपरीत यदि कला का दायरा संकुचित होता दिखे तो इसे अवैज्ञानिक और ग़ैर-लोकतांत्रिक माना जाना चाहिए।

भारतीय समाज का बहुत बड़ा हिस्सा एक ओर लोक और आदिवासी कला से कटा हुआ है तो दूसरी ओर नगरीय कला से अपने को जोड़ने में असमर्थ है। इस प्रकार इस विशाल कला विमुख समाज का निरन्तर बड़े होते जाना कलाकारों के लिए गंभीर प्रश्न खड़ा करता है और इसी प्रश्न के परिप्रेक्ष्य में चित्रकला में 'प्रयोग' और 'नवाचार' को उसे देखना-समझना होगा।

- bhowmick.ashok@googlemail.com

फतेहपुर सीकरी का निर्माण – मुग़ल क़लम : 16वीं शताब्दी – गजलक्ष्मी दर्शनीय

लघुचित्र

नर्मदाप्रसाद उपाध्याय

रंगों और रेखाओं का मिलन सृष्टि के जन्म के पहले दिन से ही एक उत्सव के रूप में मनता चला आ रहा है और यह उत्सव रोज़ क्यों, हर उस पल में मनता है जब कलाकार इन रंगों और रेखाओं को एक कृति में परिणत कर देता है। यह मिलन हमें हमारी चित्रांकन की परम्परा में अनादिकाल से दिखाई देता है। प्रयोगधर्मिता का सन्दर्भ लेकर देखें तो समूची भारतीय चित्र परम्परा में इसकी निरन्तरता बनी हुई है। यहाँ अन्तर्सम्बन्धों की अछूती दुनिया खुलती है।

परस्परता का लालित्य

रूप को शब्द में बाँधा जाए या शब्द को रूप में यह दोनों ही कार्य बड़े कठिन हैं। अभिव्यक्ति की अपनी सीमा होती है जबकि रूप और शब्द तो सीमातीत होते हैं लेकिन इस देश के शब्दकारों और चितेरों ने यह कमाल किया है कि उन्होंने रूप और शब्द को भी अपनी सीमाओं का अहसास कराया, फिर वे चाहे वाल्मीकि, कालिदास, तुलसी, सूर से लेकर बिहारी और केशव तक के महान कवि हों या अजन्ता के मनोहारी रूपायनों के चितेरों से लेकर निहालचन्द जैसे ऐसे महान चित्रकार जिन्होंने विश्व विख्यात 'बणी-ठणी' को रुपायित कर शब्द और रूप को अपनी सीमातीत अभिव्यक्ति का अनुभव कराया।

रूप और शब्द को बाँध देने का यह अनुभव शाश्वत है और इस अनुभव के लिए उत्तरदायी वे शब्द साधक और रंगों और रेखाओं को साधकर आकार देने वाले वे कलाकार हैं जिन्होंने हमें अनमोल दृश्य विरासतों को सौंपा है। रूप को गढ़ने के लिए यद्यपि ये कलाकार ही उत्तरदायी हैं लेकिन रंगों और रेखाओं के मिलन की कहानी तब से आरम्भ होती है जब से सृष्टि जन्मी।

दसवीं सदी से लघु चित्रों का काल आरम्भ होता है जबसे उनके वास्तविक साक्ष्य मिलते हैं। ये लघुचित्र अपने आरम्भिक काल में ताड़पत्र पर बनाए गए, सचित्र ग्रन्थों में और लकड़ी के फलक पर निर्मित किए गए तथा चौदहवीं सदी के प्रारम्भ से भारत में सचित्र ग्रन्थ काग़ज़ पर बनाए जाने लगे।

जिन्हें लघुचित्र या मिनियेचर पेंटिंग कहा जाता है उसके मूल में लेटिन शब्द मिनिमम है जिसका अर्थ है न्यून, लघु या छोटा। पश्चिम में इसी शब्द से मिनियेचर बना है जो बहुधा पोट्रेट के लिए प्रयुक्त होता है। जबकि भारतीय लघुचित्र व्यक्ति चित्र या पोट्रेट नहीं है। 10 गुणत 15 सेंटीमीटर या इससे भी छोटे आकार में ये लघुचित्र बनाए गए हैं और कई लघुचित्र ऐसे हैं जिनमें एक नहीं अनेक प्रसंगों को भी चित्रित कर दिया गया है। ये इतनी बारीक़ी के साथ बने हैं कि इनकी पूरी कलात्मकता को मैग्निफाईंग ग्लास के मार्फ़त देखा जा सकता है। एक लघुचित्र है जिसमें राधा की वेणी को गूँथते हुये कृष्ण को चित्रित किया गया है। यहाँ वेणी

में गुंथे हुये फूल की एक-एक पाँखुरी को गिना जा सकता है। यदि वे सदाफूली के पुष्पों से सजे मण्डप में बैठी हैं तो उस मण्डप में लगे हुए फूल की एक-एक पाँखुरी को गिना जा सकता है। यदि राम दरबार के अंकन में माता सीता धारीदार साड़ी पहने बैठी हैं तो इस धारीदार साड़ी की एक-एक धारी को गिना जा सकता है और यमुना का ऐसा जल प्रवाह जो लहरों से भरपूर है तो एक-एक लहर की गिनती की जा सकती है। ये लघुचित्र भारत के विभिन्न हिस्सों में दसवीं से उन्नीसवीं सदी तक बनाए गए और ये जिस अंचल में बने उस अंचल के नाम से इन लघुचित्रों की शैलियों का नामकरण किया गया।

यदि आरम्भ से ही लघुचित्रों की परम्परा पर विचार करें तो यह ज्ञात होता है कि दसवीं-ग्यारहवीं सदी में पाल शैली और अपभ्रंश शैली में जो देशज अंकन हुए उनकी शैली भी निरंतर परिवर्तित हुई। हमारे कलाकारों ने स्थानीयता के साथ-साथ विदेशी प्रभाव को भी आत्मसात किया। इसका सबसे प्रामाणिक उदाहरण अपभ्रंश शैली में किए गए 'कल्पसूत्र' और 'कालकाचार्य कथा' के वे अंकन हैं जिनमें शक राजाओं को उनकी विदेशी वेशभूषा और दाढ़ियों के साथ चित्रित किया गया है। इन्हें साही आकृतियाँ कहा जाता है।

सल्तनत काल में यद्यपि लघुचित्रांकन की परम्परा नहीं रही किन्तु भागवत के जो अंकन इस काल के मिले हैं जिन्हें पालम भागवत के नाम से जाना जाता है। उनमें विदेशी प्रभाव भी परिलक्षित होता है। विशेष रूप से परिधानों के सन्दर्भ में। दिल्ली से पालम तक जो शैली इस काल में प्रचलित रही तथा कुलहदार व चौरपंचाशिका शैली के नाम से भी जिसके स्वरूप को जाना जाता रहा, उस शैली में भी जो चित्रांकन मिले हैं उनमें भी प्रयोगधर्मिता दिखाई देती है।

मुग़लकाल में जो इम्पीरियल मुग़ल क़लम अकबर के समय में अस्तित्व में आई उस पर फ़ारसी लघुचित्र परम्परा का प्रभाव था। फ़ारसी लघुचित्रों की परम्परा तेरहवीं सदी से दिखाई देती है जिस पर चीनी प्रभाव भी मंगोलों की विजय के बाद पड़ा। फ़ारसी लघुचित्रों की जो परम्परा विद्यमान रही उसका व्यापक प्रभाव इस्लामी लघुचित्रों की उन परम्पराओं पर पड़ा जो तुर्की तथा भारत में जन्मीं। फ़ारसी लघुचित्रों की विशेषताएँ जो अकबरकाल की मुग़ल शैली में परिलक्षित हुईं उनके कारण प्रयोगधर्मिता की स्थिति मुग़ल क़लम में

डांस कंपनी पेन: 19वीं सदी

पश्चिम के लघुचित्रों में और भारतीय लघुचित्रों में मुख्य अन्तर यह है कि पश्चिम के लघुचित्र व्यक्ति केन्द्रित हैं जबकि भारतीय लघुचित्र समग्रता और अपने आसपास के लोक से जुड़े हुए हैं।

अप्रतिहत रूप से विद्यमान रही। जब हुमायूँ भारत में पुनः ईरान से लौटा तो वह अपने साथ चित्रकारों को भी लाया। ये चित्रकार महान कलाकार बेहज़ाद से प्रभावित थे। हुमायूँ के साथ अब्दस समद शीराज़ी और मीर सय्यद अली नामक जो सफ़वी कलाकार भारत आए उन्होंने यहाँ के स्थानीय चित्रकारों को प्रशिक्षण दिया तथा उन्हें यह भी स्वतंत्रता दी कि वे अपनी देशज परम्परा से विमुख न हों और यही कारण मुग़ल क़लम में प्रयोगधर्मिता और नवाचार का कारण बना जिसकी परिणति इम्पीरियल, सब इम्पीरियल, पॉपुलर, प्रॉविंशियल और बाज़ार मुग़ल जैसी क़लमों में हुई।

अकबर एक उदारवादी शासक था जिसने अपने समय में जिन सचित्र ग्रंथों को तैयार करवाया उनमें स्थानीय कलाकारों ने निरन्तर प्रयोग किए। हिन्दू धार्मिक ग्रंथ जैसे 'महाभारत' जिसे 'रज़्मनामा' के नाम से बदायूनी ने अनुदित किया वह जब सचित्र रूप से बना तो हिन्दू व्यक्तित्वों को फ़ारसी क़लम के प्रभाव से चित्रित किया गया। यही स्थिति सोलहवीं सदी में तैयार की गई 'रामायण' की श्रृंखला के उन लघुचित्रों की थी जिन्हें अकबर के शासनकाल में अब्दुल रहीम ख़ान-ए-ख़ाना के मार्गदर्शन में तैयार कराया गया। अब्दुल रहीम एक उदारवादी कवि थे इसलिए इन चित्रों पर हिन्दुत्व की प्रवृत्तियों का प्रभाव पड़ा। प्रायः हिन्दू कलाकारों के द्वारा निर्मित किए जाने के कारण भी प्रयोगधर्मिता वाले अंकन बने।

अकबर एक उदारवादी शासक था जिसने अपने समय में जिन सचित्र ग्रंथों को तैयार करवाया उनमें स्थानीय कलाकारों ने निरन्तर प्रयोग किए। हिन्दू धार्मिक ग्रंथ जैसे 'महाभारत' जिसे 'रज़्मनामा' के नाम से बदायूनी ने अनुदित किया वह जब सचित्र रूप से बना तो हिन्दू व्यक्तित्वों को फ़ारसी क़लम के प्रभाव से चित्रित किया गया। यही स्थिति सोलहवीं सदी में तैयार की गई 'रामायण' की श्रृंखला के उन लघुचित्रों की थी जिन्हें अक़बर के शासनकाल में अब्दुल रहीम ख़ानख़ाना के मार्गदर्शन में तैयार कराया गया।

यदि रामायण के अकबरकालीन उन अंकनों पर विचार करें जो वर्तमान में फ्रीर गैलेरी वाशिंगटन में रखे हुए हैं तो हम पाएँगे कि उनमें प्रसंग तो सभी रामायण के हैं लेकिन जो परिधान आकृतियों को पहनाए गए हैं वे फ़ारसी या मुग़ल परिधान हैं।

यह परम्परा आगे चलकर और परिमार्जित हुई तथा देशज प्रभाव ने फ़ारसी प्रभाव पर मानो विजय पा ली। भारतीयता से ओतप्रोत लघुचित्र उत्तर मुग़ल काल में बनने आरम्भ हुए। फ़ारसी प्रभाव के साथ-साथ वह बाइज़ेंटाइन प्रभाव भी विलुप्त हो गया जो जहाँगीर के समय इस चित्रांकन परम्परा में प्रविष्ट हुआ था। यह भी एक तथ्य है कि जहाँगीर के समय में प्रयोगधर्मिता और नवाचार ने मानो अपने उत्कर्ष को छुआ। मस्तक के पीछे वलय बनाने के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि यह जहाँगीरकालीन कला की देन थी लेकिन जैसा कि डॉ. रंधावा सूचित करते हैं यह वलय भारतीय कला से बाइज़ेंटाइन कला में गया तथा वहाँ से यह पुनः जहाँगीर के समय में भारत में आया।

प्रयोगधर्मिता की दृष्टि से माण्डू क़लम भी अत्यंत महत्वपूर्ण है जिसमें पन्द्रहवीं सदी में 'कल्पसूत्र' और 'नियामतनामा' जैसे सचित्र ग्रंथ बने। माण्डू कल्पसूत्र जो ग़यास खिलजी के समय सन् 1439 में निर्मित हुआ उसमें एक अंकन में ग़यास खिलजी को भोजन परोसती हुई महिलाओं को चित्रित किया गया है जो मालवी परिधान व अलंकरण पहने हुए हैं। सफ़वी क़लम के प्रभाव वाले इन चित्रों में देशज परम्परा की प्रविष्टि स्पष्ट रुप से दिखाई देती है।

जहाँगीर के बाद जो अंकन शाहजहाँ के समय में हुए उनमें जड़ता दिखाई देने लगती है। हद दर्जे की बारीक़ी के कारण ये अंकन उस तरह के सजीव अंकन नहीं हैं जो जहाँगीर के समय में बनाए गए थे। औरंगज़ेब के समय में इस प्रयोगधर्मिता का एक दूसरा स्वरूप दिखाई देता है। वह चित्रकला से बैर रखता था तथा जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया गया है वह ग्वालियर के किले में क़ैद उन रिश्तेदारों के चित्र बनवाता था जिन्हें वह नियमित रूप से अफ़ीम दिया करता था ताकि वे शीघ्र ही मृत्यु को प्राप्त हों। औरंगज़ेब के बाद मुग़ल शासन का अवसान युग आरम्भ होता है। औरंगज़ेब के समय में ही दरबारी चित्रकार राजस्थान और

हिमाचल प्रदेश के उन राजाओं के दरबार में अपना कौशल दिखाने के लिए चले गए थे जो राधा और कृष्ण की भक्ति में आकंठ डूबे हुए थे। ये बड़ी रियासतों और छोटे ठिकानों वाले शासक सौंदर्य प्रेमी थे और भक्त भी थे। इन्होंने धार्मिक ग्रंथों का सचित्रीकरण कराया। विशेष रूप से मेवाड़ में राजा जगतसिंह काल में निर्मित रामायण और गीतगोविन्द के उन अद्भुत चित्रों के दर्शन होते हैं जिनमें विलक्षण नवाचार है।

साहिबदीन नाम के चितेरे ने राजा जगतसिंह के काल में रामायण के प्रसंगों का सचित्रीकरण किया जिनमें हम मुग़ल प्रभाव के साथ-साथ देशज परम्परा का संविलियन पाते हैं। इसी तरह किशनगढ़ में एक अद्भुत शैली का जन्म हुआ जिसके लिए निहालचंद जैसे महान कलाकार उत्तरदायी हैं। निहालचंद ने वह बणी ठणी रची जिसके सामने मोनालिसा का सौन्दर्य कहीं नहीं ठहरता। राजस्थान के मेवाड़, मारवाड़, ढूंढार और हाड़ौती अंचलों में जो चित्रशैलियाँ पनपीं और विकसित हुईं उनमें सर्वत्र प्रयोग थे और अपनी-अपनी तरह का नवाचार था। इन लघुचित्रों में मुग़लकालीन उपादान दिखाई नहीं देते अपितु सुन्दर भारतीय उपादान और उनसे जुड़ी गतिविधियों और लीलाओं के दर्शन होते हैं।

यही स्थिति पहाड़ी अंचलों में रही जहाँ कांगड़ा और बसोहली जैसी विश्वविख्यात लघुचित्र शैलियाँ जन्मीं और पनपीं। पंडित सेउ और उनके महान पुत्र मानकू और नैनसुख ने नवाचार का एक अनोखा संसार रचा और आगे चलकर इनकी संततियों ने इस परम्परा को जारी रखा। चम्बा, मानकोट, गुलेर, जसरोटा, नूरपुर और बिलासपुर सहित पहाड़ के छोटे-छोटे अंचलों में ये चित्र शैलियाँ विभिन्न कालखण्डों में अपने अभिनव स्वरूपों के साथ प्रकट हुईं। मानकू और नैनसुख के पुत्रों और पौत्रों ने अपनी देशज परम्परा को संरक्षित रखते हुए नए प्रयोग किए। इनमें रांझा और निक्का ने जो लघुचित्र बनाये वे हमारे चित्रांकन के इतिहास की अनमोल निधि हैं। नैनसुख और मानकू के पुत्रों और पौत्रों के कार्य को उनकी प्रथम और दूसरी पीढ़ी के कार्य के रूप में जाना जाता है। यह सन्दर्भ बहुत मायने रखते हैं।

पहाड़ी और राजस्थानी लघुचित्रों का यह संसार एक ऐसा विलक्षण संसार है जिसकी तुलना विश्व के किसी भी चित्र संग्रह से इनकी उत्कृष्टता को लेकर नहीं की जा सकती। इन लघुचित्रों में देशज परम्परा और उसके उदारवाद के सहज दर्शन होते हैं। आधुनिक काल में राजस्थान की आधुनिक चित्रकला के जनक के रूप में मास्टर कुंदनलाल मिस्त्री की प्रतिष्ठा है।

रागमाला

भारतीय लघुचित्र परम्परा की ही अपनी मौलिक विशेषता है कि इसमें राग भी चित्रित किए गए। विभिन्न लघुचित्र शैलियों में बने रागमाला के अंकन विश्व में बेजोड़ हैं। संगीत का इतना सजीव रूपायन विश्व की किसी चित्रकला परम्परा में नहीं हुआ। अन्तरानुशासन की यह पराकाष्ठा है कि राग पहले धर्म से जुड़े और फिर चित्रांकन से। यह प्रयोग गुरु नानकदेवजी ने किया। उन्होंने लोक रागों को भी जोड़ा तथा दक्षिण भारत के रागों को भी गुरुवाणी में समन्वित किया। गुरुग्रंथ साहिब के कीर्तन रागों पर आधारित हैं तथा इन रागों के आधार पर लघुचित्रों के अंकन की एक विशिष्ट परम्परा जन्मी।

साहित्य की अनदेखी

साहित्य के साथ इन लघुचित्रों का सीधा सम्बन्ध है। केशव की रसिकप्रिया और कविप्रिया, बिहारी की सतसई, मतिराम के रसराज और देव के अष्टयाम सहित उनके पूर्ववर्ती काव्य प्रसंगों के आधार पर विभिन्न शैलियों में अंकन हुए। रामायण, महाभारत और कालिदास के काव्य से लेकर तुलसी और सूर के काव्य प्रसंग चित्रित हुए। जयदेव के गीतगोविन्द की अष्टपदियों के अंकन की तो मेवाड़ से कांगड़ा तक एक समृद्ध परम्परा रही। लेकिन कुछ अपवादों को छोड़ दें तो हिन्दी के साहित्यकारों ने इन लघुचित्रों पर ध्यान नहीं दिया। विसंगति यह भी रही कि इन लघुचित्रों का अध्ययन जिन अंग्रेज़ समीक्षकों और उनके अनुयायियों के द्वारा किया गया उन्होंने इस काव्य के मर्म को पूरी तरह स्पर्श नहीं किया। वे इन लघुचित्रों के तकनीकी स्वरूप की व्याख्या तक सीमित रह गए। इस प्रकार यह अन्तराल अभी भी है। यदि इन चित्रों में अन्तरनिहित मर्म के आधार पर इनकी तकनीकी व्याख्या हमारे हिन्दी के विद्वान करें तो यह अन्तराल समाप्त होगा और इन लघुचित्रों में निहित प्रयोगधर्मिता और नवाचार अपने पूरे परिप्रेक्ष्य में कला और साहित्य जगत के सामने आएगा। मैं यहाँ विशेष रूप से रामविलास शर्मा का कथन उध्दृत करना चाहता हूँ जिसमें उन्होंने कला इतिहास की समस्याओं पर विचार करते हुए कहा कि जैसे भाषा विज्ञान में तुलनात्मक अध्ययन का महत्व है वैसे ही कलाओं के इतिहास में भी तुलनात्मक अध्ययन का महत्व स्वीकार करना चाहिए। उन्होंने तुलसी और सूर के सौन्दर्यबोध तथा उनमें विद्यमान लघुचित्र परम्परा के बारे में भी संकेत किया है। आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, नगेन्द्र और विद्यानिवास मिश्र जैसे हिन्दी मनीषियों ने इस ओर ध्यान दिया है किन्तु इस अध्ययन की अपेक्षा को पूरा नहीं करता।

इसी प्रकार नृत्य भी लघुचित्रों के अंकन में प्रविष्ट हुए। यह भी हुआ कि जो कलाकार राज्याश्रय में भले रहे किन्तु जो सामान्य लोक से आए उन्होंने अपने समय के लोक स्पंदनों को जो विभिन्न गतिविधियों के रूप में थे चित्रित किया। कम्पनी काल के लघुचित्रों में इतना वैविध्य दिखाई नहीं देता। पटना और बनारस में विशेष रूप से कम्पनी कलम के जो चित्र बने उनमें प्राय: एकरसता है तथा वे उतने प्राणवान नहीं हैं जितने उनकी पूर्ववर्ती परम्पराओं के लघुचित्र हैं। भारतीय लघुचित्र परम्परा में व्यापक परिवर्तन अंग्रेज़ों के आगमन के बाद आया। विशेष रूप से राजा रवि वर्मा ने तैल रंगों में अद्भुत चित्र बनाए जो लघुचित्र नहीं थे। राजा रवि वर्मा के पहले ज़ोफनी, केटल, होजेस और विलियम डेनियल जैसे अनेक विदेशी कलाकार भारत आए लेकिन उनकी शैली भारतीयों के लिए एक विशिष्ट आकर्षण वाली शैली सिद्ध हुई। अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में काग़ज़ और अभ्रक पर जलरंग की पेंटिंग की एक विशिष्ट शैली विकसित हुई जिसमें उत्सवों के साथ-साथ दैनिक जीवन के प्रसंगों को भी चित्रित किया गया। इसका आरम्भ मुर्शिदाबाद से हुआ तथा यह चूँकि लघुचित्र शैली के साथ संविलियत हुई इसलिए इसे 'हायब्रिड शैली' भी कहा गया।

हिन्दी के साहित्यकारों ने इन लघुचित्रों पर ध्यान नहीं दिया। विसंगति यह भी रही कि इन लघुचित्रों का अध्ययन जिन अंग्रेज़ समीक्षकों और उनके अनुयायियों के द्वारा किया गया उन्होंने इस काव्य के मर्म को पूरी तरह स्पर्श नहीं किया। वे इन लघुचित्रों के तकनीकी स्वरुप की व्याख्या तक सीमित रह गए।

सन् 1857 की क्रान्ति के बाद जॉन ग्रिफिथ्स और जॉन लॉकवुड किपलिंग भारत आए। ये बेहतरीन विक्टोरियन चित्रकार थे। भारत में आने के बाद ग्रिफिथ ने सर जे.जे. स्कूल ऑफआर्ट का संचालन किया और किपलिंग ने इस स्कूल के साथ लाहौर में स्थापित मेयो स्कूल ऑफ आर्ट्स का भी नेतृत्व किया।

लखनऊ की रूमी क़लम

यह वह समय था जब भारतीय लघुचित्र परम्परा प्राय: अस्तित्वहीन हो गई। यद्यपि मुग़ल क़लम का पुनरुत्थान मोहम्मद शाह रंगीले के समय में अल्पकाल के लिए हुआ किन्तु उसमें स्थायित्व नहीं रहा। 1760 ईस्वी में मुग़ल साम्राज्य के पतन के साथ ही उत्तरी भारत की चित्रकला में अवनति के चिन्ह दृष्टिगत होने लगे तथा दिल्ली के चित्रकारों ने विशेष रूप से शबीहों अर्थात व्यक्तिचित्रों का अंकन प्रारम्भ कर दिया ताकि उनके माध्यम से उन्हें धन मिले। इन चित्रों में अलंकरण योजना और सादृश्य उस कोटि का नहीं था जिस कोटि की गुणात्मकता उनके पूर्वजों के पास थी। अठारहवीं सदी के अंत में और उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में लखनऊ में एक भिन्न प्रकार की चित्रण शैली प्रचलित हो गई जिसे रूमी क़लम के नाम से जाना जाता है। इस शैली पर यूरोपीय कला का प्रभाव था।

जो स्थिति प्रॉविंशियल क़लम के केन्द्रों जैसे लखनऊ, मुर्शिदाबाद और पटना आदि में चित्रांकन की थी उससे कोई भिन्न स्थिति राजस्थान और पहाड़ के केन्द्रों की नहीं थी। राजस्थान में जयपुर, उदयपुर, नाथद्वारा, किशनगढ़ और बूँदी जैसे केन्द्रों में व्यावसायिक दृष्टि से धार्मिक चित्र और व्यक्तिचित्र बनाए जा रहे थे। इसी तरह पंजाब में लाहौर और अमृतसर में अब सिख चित्रकारों की शैली लोकप्रियता प्राप्त कर रही थी। पटना शैली का जो पूर्व में उल्लेख किया गया है वह कम्पनी शैली की ही एक शाखा थी। औरंगज़ेबकाल में जब अवस्था बिगड़ी और अनेक कलाकार मुर्शिदाबाद आए तब आरम्भिक लगभग चालीस वर्षों तक तो उन्हें प्रश्रय मिला लेकिन बाद में नवाब की स्थिति भी दुर्बल होने के कारण इन चितेरों को फिर कोलकाता और दिल्ली जाना पड़ा।

पटना में इन कलाकारों ने प्रश्रय पाया और यहाँ विशेष रूप से व्यक्तिचित्रों के साथ-साथ अनेक पशु-पक्षियों के चित्र बनाए गए जिनकी माँग अंग्रेज़ों के द्वारा की जाती थी। कम्पनी शैली में भारतीय सामाजिक जीवन, लोकप्रिय पर्व तथा मुग़लकालीन स्मारक अंग्रेज़ों ने बनवाए जिनके सर्वोत्तम उदाहरण लेडी इम्पे, विलियम फ्रेज़र और कर्नल स्किनर के संग्रहों के वे चित्र हैं जिन्हें क्रमश: शेख़ ज़ियाउद्दीन और ग़ुलाम अली ने निर्मित किया था। लेडी इम्पे के संग्रह के चित्र विशेष रूप से पक्षी अध्ययन

के लिए तैयार किए गए थे। इन संग्रहों के चित्र लघुचित्रों के स्वरूप में ही हैं किन्तु ये पूर्ववर्ती लघुचित्रांकन परम्परा में बने चित्रों से भिन्न हैं लेकिन प्रयोग की दृष्टि से अभिनव हैं।

बंगाल स्कूल

उन्नीसवीं सदी में जो महान चित्रकार लोकप्रिय हुए उनमें पेस्टनजी बोमनजी, महादेव विश्वनाथ धुरंधर और सावलाराम लक्ष्मण हल्दनकर व हेमेन मजूमदार शामिल थे। एक और कलाकार के.जी. सुब्रमण्यन का नाम भी उल्लेखनीय है जिन्होंने लोकप्रिय संस्कृति और लोक कला को शहरी प्रवृत्तियों के साथ जोड़कर नई परम्पराओं का आविष्कार किया।

उनके पूर्ववर्ती नन्दलाल बोस तथा नवाचार व प्रयोगधर्मिता के सन्दर्भ में बंगाल स्कूल को निश्चय ही श्रेय दिया जाना चाहिए। बंगाल स्कूल की पहचान शांति निकेतन स्कूल के नाम से भी है जिसका नेतृत्व रबीन्द्रनाथ टैगोर ने किया। अंग्रेज़ कलाकार जो इस काल में भारत आए उन्होंने पोर्ट्रेट अथवा व्यक्तिचित्रों के निर्माण पर बल दिया जिसके कारण कलाकृतियों के बाज़ार सजने लगे। यह भी उल्लेखनीय है कि लघुचित्रों के समानार्थी के रूप में पोर्ट्रेट को पश्चिम में मान्यता दी जाती रही है।

जिस बंगाल स्कूल का उल्लेख किया गया है वह बंगाल स्कूल एक राष्ट्रीय आन्दोलन के रूप में भी उभरा। अवनींद्रनाथ ठाकुर इस स्कूल के पुरोधा कलाकार थे। उनके द्वारा वर्ष 1905 में बनाई गई भारत माता शीर्षक कृति अपने समय में बहुत लोकप्रिय हुई। उन्होंने ब्रिटिश कला शिक्षक अर्नेस्ट बिनफील्ड हेवेल के साथ मिलकर मुग़ल लघुचित्रों की अनुकृतियों को बनाने पर ज़ोर दिया। बंगाल स्कूल में अनेक महत्वपूर्ण कलाकार हुए जिन्होंने पूर्ववर्ती कला परम्पराओं को आत्मसात करते हुए अपनी समकालीन प्रवृत्तियों को भी अपने चित्रांकन में अभिव्यक्त किया। नन्दलाल बोस और यामिनी रॉय इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण कलाकार कहे जा सकते हैं।

ठाकुर शैली एक प्रयोगात्मक शैली थी जिसमें जहाँ एक ओर अजन्ता की रेखा की उपस्थिति थी वहीं दूसरी ओर मुग़ल, पहाड़ी तथा अन्य शैलियों के तत्व भी इसमें समाविष्ट हुए थे। अपने आरम्भिक काल में इस शैली ने यद्यपि परम्परागत विषयों का उपयोग चित्रांकन के लिए किया लेकिन बाद की अवधि में इसका फ़लक विस्तीर्ण हुआ। गगनेन्द्रनाथ ठाकुर ने इस परम्परा को आगे बढ़ाया तथा शैलेन्द्र डे, असित हालदार, यामिनी रॉय, सुधीर खास्तगीर, देवी

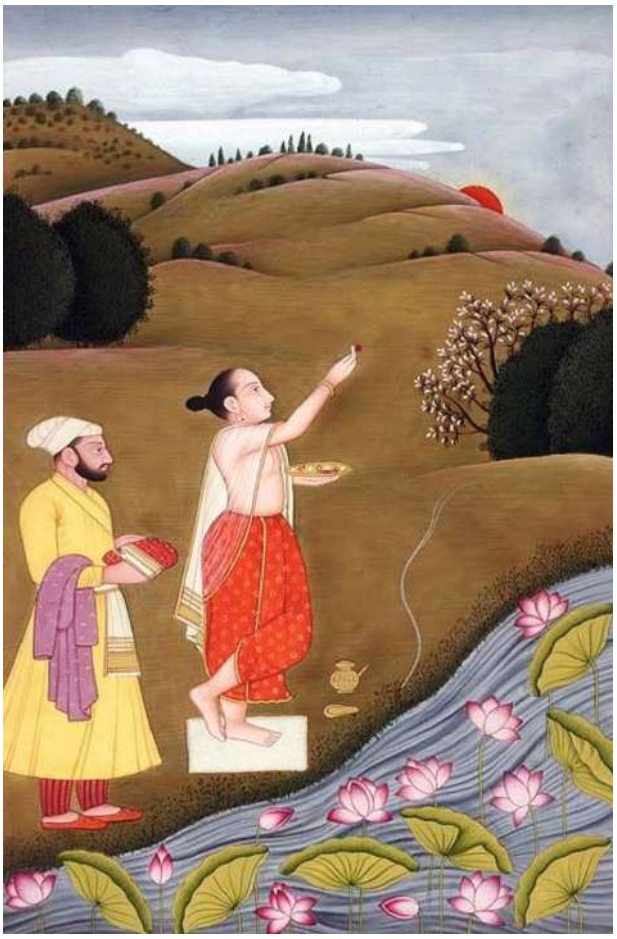

राग भास्कर–काँगड़ा शैली: 18 वीं सदी

पहाड़ी लघु चित्र

प्रसाद रायचौधुरी, पुलिन बिहारी दत्त, के. वैंकटप्पा, हकीम मोहम्मद तथा शारदाचरण उकील जैसे चित्रकारों ने इस शैली को विस्तृत फ़लक दिया तथा इन्होंने अपने-अपने केन्द्र पंजाब से लेकर मैसूर, मद्रास, देहली, लखनऊ तथा मुम्बई में खोले। नन्दलाल बोस ने जहाँ भारतीय लोक कला तथा जापानी चित्रकला का अपने कार्य में समन्वय किया, विनोद बिहारी मुखर्जी ने प्राच्य परम्पराओं को आत्मसात किया तो यामिनी रॉय ने उड़िसा की पट्टाचित्रकारी और बंगाल की कालीघाट शैली से प्रेरणा प्राप्त की। कोलकाता में कला का परिदृश्य निरन्तर विकसित होता रहा तथा सन् 1943 में द्वितीय विश्व युद्ध के समय परितोष सेन, मीरद मजुमदार तथा प्रदोष दासगुप्ता आदि के नेतृत्व में एक नया वर्ग बना जिसने तत्कालीन भारतीय समाज की दशा को एक नई दृश्य भाषा और तकनीक के माध्यम से प्रस्तुत किया। बाद में फ्रांसिस न्यूटन सूज़ा के नेतृत्व में वर्ष 1948 में प्रगतिशील कलाकार संघ की स्थापना हुई जिसमें हुसैन, रज़ा, आरा, बाकरे तथा गोडे जैसे चित्रकार सम्मिलित थे लेकिन यह संस्था बंगाल स्कूल ऑफ आर्ट्स से अलग हो गई।

मद्रास स्कूल ऑफ आर्ट

वर्ष 1970 के आसपास मोहभंग की स्थिति के चलते देवप्रसाद रायचौधुरी तथा के.सी.एस. पणिक्कर के संरक्षण में एक महत्वपूर्ण कलाकेन्द्र के रूप में मद्रास स्कूल ऑफ आर्ट उभरा। बाद के काल में जिन महत्वपूर्ण कलाकारों ने आधुनिक कला में अपना स्थान बनाया उनमें प्रमुख हैं तैयब मेहता, सतीश गुजराल, कृष्ण खन्ना, मनजीत बावा, के.जी. सुब्रमण्यन, रामकुमार, बेन्द्रे, डी.जे. जोशी, अंजलि इला मेनन, अकबर पदमसी, जतिन दास, जहाँगीर सबावाला, ए. रामचन्द्रन, गायतोण्डे, रामकुमार सिन्हा तथा ग़ुलाम मोहम्मद शेख़ और नीलिमा शेख़ आदि। इनमें मंजीत बावा ने विशेष रूप से लघुचित्रांकन फॉर्मेट में चित्र बनाए तथा इसी प्रकार के लघुचित्रांकन के फॉर्मेट में ग़ुलाम मोहम्मद शेख़ और नीलिमा शेख़ ने महत्वपूर्ण कार्य किया। जे. सुल्तान अली, लक्ष्मण पै, ज्योति भट्ट, भगवान कपूर, शीला ऑडेन, देव्यानी कृष्ण, बद्रीनारायण आर्य, जे. रामपाल, कमला मित्तल और पी. खेमराज ऐसे कलाकार हैं जिन्होंने इस चित्रांकन परम्परा को आधुनिक युग में नए आयाम दिए। उन्होंने क्षेत्रीय परम्परागत तथा लोक कला शैलियों से प्रेरणा ग्रहण की तथा उनका समन्वय पाश्चात्य कला प्रवृत्तियों से करते हुए प्रायः परम्परागत फॉर्मेट में नए प्रयोग करते हुए श्रेष्ठ कृतियाँ बनाईं। यहाँ तक कि प्रख्यात चित्रकार विमल दासगुप्ता ने इन पारम्परिक चित्रों में तांत्रिक और फंतासी तत्वों को

शिव-छवि - मुग़ल क़लम- फारसी प्रभाव: 16 वीं सदी

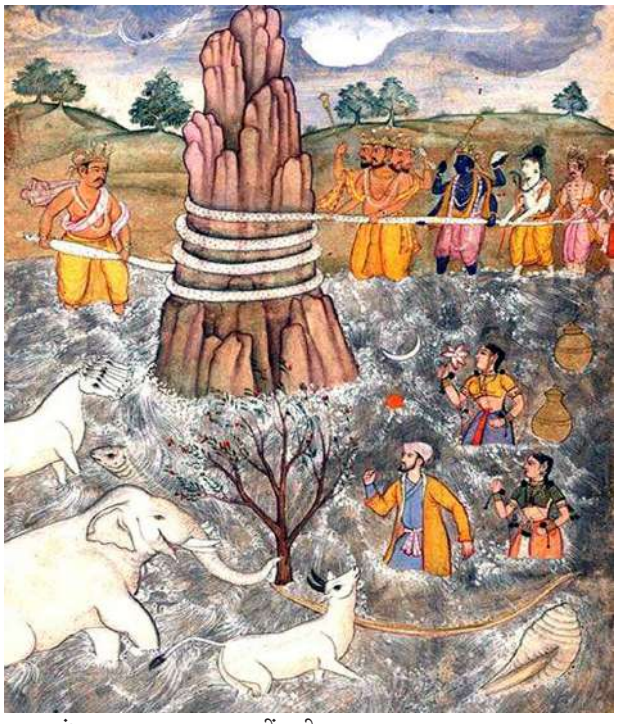

समुद्र मंथन- मुग़ल क़लम: 16 वीं सदी

जोड़ा तथा जसवंत सिंह ने ऐसे रागमाला चित्र बनाए जिनमें अतियथार्थवाद के विभिन्न रूप थे। अब नई तकनीक के आधार पर पुराने फॉर्मेट को अपनाते हुए चित्रांकन किए जा रहे हैं।

यह भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि लंदन में सिंह सिस्टर्स ने लघुचित्र परम्परा में एक ऐसे नवाचार को जन्म दिया जिसके कारण वे पूरे विश्व में लोकप्रिय हुईं। उन्होंने लघुचित्र फॉर्मेट में अपने समकालीन विषयों को चित्रित किया। उनकी इस परम्परा को अन्य कलाकारों ने भी आगे बढ़ाया। इस सम्बन्ध में शाज़िया सिकन्दर का नाम लिया जा सकता है जिन्होंने वर्ष 2013 में शारजाह की प्रदर्शनी में ऐसे प्रयोगधर्मी भारतीय लघुचित्रों को प्रदर्शित किया। यद्यपि इस परम्परा में तो पूरी तरह नहीं किन्तु अपने ढंग से भारतीयता को अमृता शेरगिल ने चित्रित किया। उन्होंने चटख रंगों को प्राथमिकता दी तथा भारतीय नारी और किसानों को अपने चित्रों का विषय बनाया।

इस सम्बन्ध में बड़े विस्तार से चर्चा की जा सकती है किन्तु यह तथ्य अपने स्थान पर विद्यमान है कि भारतीय लघुचित्र परम्परा की प्रयोगधर्मिता ने कभी विराम नहीं पाया। विगत दो-तीन वर्षों में कोरोना की महाव्याधि ने कलाकारों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया। लॉकडाउन तथा उसके कारण लोक पर पड़े प्रभाव को चितेरों ने अपनी कला के माध्यम से अभिव्यक्त किया। प्रवासी मज़दूरों को लेकर एक पूरी चित्र श्रृंखला धुर्वी आचार्य ने बनाई जिसे मुम्बई में प्रदर्शित किया गया। ओडिशा और बंगाल के पट्टचित्रों के अंकन की पारम्परिक कला में अंकित किए जाने वाले विषय कोरोना के कारण पड़ने वाले लोक प्रभाव के विषयों से प्रतिस्थापित हुए।

पहाड़ी शैली

एक बड़ा महत्वपूर्ण कार्य पहाड़ी शैली के अंकनों में हुआ। विशेष रूप से परम्परागत कांगड़ा शैली के लघुचित्रों के फॉर्मेट में पहाड़ी कलम के प्रख्यात चित्रकार विजय शर्मा तथा उनके अनेक शिष्यों ने कार्य किया जिनमें धनीराम प्रमुख हैं। इन चित्रों में कांगड़ा क़लम की मुख्य विशेषताएँ तो दिखाई देती ही हैं लेकिन नवाचार के रूप में ग्रामीण परिवेश में मास्क लगाए पहाड़ी वेशभूषा में एक रंगरेज़ भी दिखाई देता है जो दुपट्टे को रंग रहा है। उसके सामने रंगाई की सामग्री है। साथ ही पार्श्व में एक ब्राह्मण चूल्हे पर रसोई तैयार कर रहा है जिसने मास्क पहना है तथा उसके पीछे मास्क लगाए एक स्त्री है। घर चित्रित है जिसके पीछे वृक्ष अंकित है तथा छत पर एक चमगादड़ उड़ता हुआ दिखाई दे रहा है। इस प्रकार के अनेक

वर्षगाँठ उत्सव-बुन्देलखण्ड (दतिया शैली)-18 वीं सदी

बनी ठनी-
किशनगढ़ क़लम-
निहालचंद की
कृति: 18वीं सदी

सीता हरण- मुग़ल क़लम -16 वीं सदी

भारतीय लघुचित्र परम्परा की प्रयोगधर्मिता ने कभी विराम नहीं पाया। विगत दो-तीन वर्षों में कोरोना की महाव्याधि ने कलाकारों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया। लॉकडाउन तथा उसके कारण लोक पर पड़े प्रभाव को चितेरों ने अपनी कला के माध्यम से अभिव्यक्त किया। प्रवासी मज़दूरों को लेकर एक पूरी चित्र श्रृंखला धुर्वी आचार्य ने बनाई जिसे मुम्बई में प्रदर्शित किया गया। ओडिशा और बंगाल के पट्टचित्रों के अंकन की पारम्परिक कला में अंकित किए जाने वाले विषय कोरोना के कारण पड़ने वाले लोक प्रभाव के विषयों से प्रतिस्थापित हुए।

अंकन पहाड़ी चित्रकला की विभिन्न शैलियों में हुए। आधुनिक प्रयोगवादी चित्रकारों में परमानन्द चॉयल को भैंसों का चितेरा, गोवर्धनलाल को भीलों के चितेरे तथा सोभागमल को नीड़ के चितेरे के रूप में मान्यता दी जाती है।

यह संक्षिप्त झाँकी है हमारी उस चित्रांकन परम्परा की जिसमें लघुचित्रों का प्राधान्य रहा किन्तु परवर्तीकाल में निरन्तर प्रयोग और नवाचार इस परम्परा में होते रहे जिसके कारण न केवल मूर्त चित्र आधुनिक काल में इस फॉर्मेट में बने अपितु अमूर्त अंकन भी लघुचित्रों के फॉर्मेट में हुए। मालवा, बुन्देलखण्ड और बघेलखण्ड जैसे अनेक क्षेत्र ऐसे हैं जहाँ विपुल लघुचित्र और सचित्र ग्रंथ निर्मित हुए हैं किन्तु उनका अध्ययन प्रायः नहीं के बराबर हुआ। मेरे द्वारा खानदेश अंचल में कान्हेरी शैली में निर्मित एक सचित्र गीतगोविन्द की पोथी खोजी गई जिसे सन् 1765 ईस्वी में निर्मित किया गया था। इस शैली के इन चित्रों में विस्मित करने वाले प्रयोग विद्यमान हैं। जहाँ एक ओर मराठी लोक प्रभाव है जिसमें कृष्ण विट्ठल की तरह निर्मित हैं तो वहीं दूसरी ओर मेवाड़ और नाथद्वारा कलमों से प्रभावित महिला आकृतियाँ और अलंकरण भी हैं। मालवा और बुन्देलखण्ड की शैलियों की अपनी विशेषताएँ रही हैं तथा इन्होंने पूरे मध्य भारत अंचल की चित्रांकन शैलियों को प्रभावित करते हुए एक नई प्रयोगधर्मिता को विकसित करने में अपना योगदान दिया है।

यह अपेक्षित है कि हमारी इस समृद्ध चित्रांकन परम्परा में हुए प्रयोगों और नवाचारों को रेखांकित किया जाए तथा यह कार्य हमारी मातृभाषा हिन्दी में हो ताकि हमारी इस विरासत से पाठकों, छात्रों और विशेषज्ञों का जहाँ एक ओर परिचय हो वहीं दूसरी ओर अंग्रेज़ी के विद्वानों को भी यह जानकारी हो कि हमारी इस महान चित्रांकन परम्परा में अन्तरानुशासन की उपस्थिति विभिन्न कालखण्डों में किस प्रकार रही है। यदि यह हो पाया तो निश्चय ही भारतीय कला वह प्रभात अवश्य देखेगी जिसमें अपनी नूतन और दिव्य रश्मियों को लिए यह आलोक हमारी धरोहर का अभिनन्दन करेगा।

-upadhyayanarmada@gmail.com

अपभ्रंश शैली- कल्पसूत्र: 15वीं शताब्दी

पारम्परिक कलाएँ पुराना चावल है, अपनी ख़ास महक और स्वाद लिए हुए, लेकिन यह 'समसामयिक' यानी ठेठ हमारे समय की नहीं हो सकती।

नित नई परम्परा

शंपा शाह

''पहले गाड़ी की आवाज़ सुन मैं डर कर घर में छुप जाती थी कि न जाने अब कौन, कहाँ ले जाने आया है!'' यह बात कोई और नहीं, सरगुजा, छत्तीसगढ़ की प्रसिद्ध कलाकार सोना बाई रजवार ने बताई थी, जिनके मिट्टी के शिल्पों पर, कम से कम चार महत्वपूर्ण किताबें देश-विदेश के कला मर्मज्ञों ने लिखी हैं!

वह सोना बाई रजवार, जिनके काम ने सिर्फ़ उन्हें नहीं, बल्कि उनके पूरे समुदाय, पूरे इलाके को पहचान दिलाई है। 'रजवार क्ले रिलीफ' या कई बार 'रजवार चित्रकला' के नाम से जिसे आज देश और विदेश में चीह्ना जाता है, उसका जन्म पुहपुटरा गाँव के एक सूने से घर-आँगन में हुआ था। अपने इस घर आँगन के सूनेपन को कुछ कम करने की ग़रज़ से, सोना बाई ने उसे अकेले ही बरसों बरस मिट्टी की नाना आकृतियाँ बना कर गुलज़ार कर दिया था। तब उन्हें इस बात की रत्ती भर भी भनक नहीं थी कि एक दिन दुनिया के कई कोनों से लोग, उनकी इस मिट्टी की दुनिया को देखने, सराहने, ख़रीदने चले आएँगे, जिसे उन्होंने केवल अपना अकेलापन दूर करने के लिए रचा था!

1982-83 में बहुकला केन्द्र भारत भवन, भोपाल की दीर्घाओं के लिए लोक व जनजातीय समाज की कलाकृतियों को इकट्ठा करने के लिए, एक दल सरगुजा गया था। सोना बाई के घर में छुपे ख़जाने की पहले पहल खोज इसी दल ने की थी। उस रोज़, जो चंद चीज़ें वे सोना बाई से बड़ी मुश्किल से ख़रीद पाए थे, वहीं से वह सफ़र शुरू हुआ जिसमें फिर यह कलारूप और सोना बाई की ख्याति दूर-दराज़ की दुनिया तक पहुँच गई। मणिपुर की नीलमणि देवी के घर जब हम गए तो देखा कि रात सोते समय वह अपने सिरहाने गुंथी हुई नरम मिट्टी रख कर सोती हैं! रात में नींद उचट जाने पर वह मिट्टी से रूपाकार बनाने में जुट जातीं।

उन्होंने बताया था– ''मेरी आँखों के आगे मेरा पूरा जीवन, खादी ग्राम उद्योग केन्द्र, पटना, क्राफ़्ट्स म्यूज़ियम, दिल्ली, मानव संग्रहालय, भोपाल, अमेरिका और फ्राँस आदि की वे तमाम यात्राएँ, चलचित्र की तरह चल पड़ती हैं। सोचती हूँ कि मेरा जीवन इन सारी यात्राओं, उन लोगों के बिना, जिनसे बाहर निकलने पर परिचय हुआ, कैसा होता? मैं रात में काम करते हुए, उन सब लोगों को नित्य-प्रतिदिन याद करती हूँ।''

नीलमणि देवी मणिपुर के थोंगजाओ नामक छोटे से गाँव की एक कुम्हार स्त्री थी। इस गाँव में बहुत-सी स्त्रियाँ आज भी मिट्टी के बर्तन बनाती हैं। तब फिर नीलमणि देवी के काम को क्यों कर इतनी सराहना, इतना सम्मान मिला होगा? नीलमणि देवी ने स्वयं बताया था कि इम्फाल के प्रसिद्ध 'खोइरामबंद' या 'इमा' (माँ) बाज़ार में उनके बर्तन लोग तीन गुने दाम देकर ख़रीदा करते थे। ऐसा इसलिए था, क्योंकि, वे अपने बर्तनों को 'कांग' नामक एक बीज से अन्दर और बाहर से घिस-घिस कर चिकना कर देती थीं। यह करने से उनके बनाए मिट्टी के पात्रों में ग़ज़ब की चमक आ जाती थी। वे दूर से ही अलग पहचाने जा सकते थे। इन पात्रों की चिकनाहट और चमक उन्हें दूसरी कुम्हारिनों के काम से अलग कर देती थी। लेकिन ज़ाहिर है इस काम में उन्हें घंटों की मेहनत लगती थी।

चाहे वह पाटनगढ़, मंडला के जनगढ़ सिंह श्याम की और उन से शुरू हुई परधान गोंड चित्रकला की कथा हो या बांकुरा, पश्चिम बंगाल के कालीपद कुंभकार के 'बोंगा हाथी' की कथा या उड़ीसा के पट चित्रकार प्रहलाद मोहराना का 'तपोई' की कथा का निरूपण हो या ऊपर बताई गई सोना बाई या नीलमणि देवी की कथाएँ हों, इन सभी कथाओं को फैला कर सामने रख दें, तो कुछ ऐसे तथ्य अपने आप जुगनू-से टिमटिमा उठेंगे, जो अन्यथा हमारी आँखों से ओझल ही बने रहते हैं।

सन 1992 में इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मानव संग्रहालय से जुड़ने के बाद मेरा लोक व जनजातीय कला और कलाकारों से एक क़रीबी, अन्तरंग नाता बना, जो तब से आज तक सतत चला आ रहा है। इस पूरे दौरान में इन कला और कलाकारों को लेकर मेरी जो समझ बनी है उसमें पहले की तुलना में आमूल-चूल परिवर्तन आया है। पहले मैं भी तमाम दूसरे लोगों की तरह यह मानती थी कि पारम्परिक कलाएँ, विशेषकर लोक व जनजातीय समाजों से जुड़ी कलाएँ एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक लगभग बिना बदले हस्तान्तरित होती रहती हैं। यानी, इनमें कोई ख़ास बदलाव नहीं आते हैं। दूसरे शब्दों में परम्परा का मोटे तौर पर अर्थ, मैं यही जानती थी कि- परम्परा वह है, जिसमें एक निरन्तरता होती है, जो अपने को दोहराती रहती है। इसी तर्क के भीतर

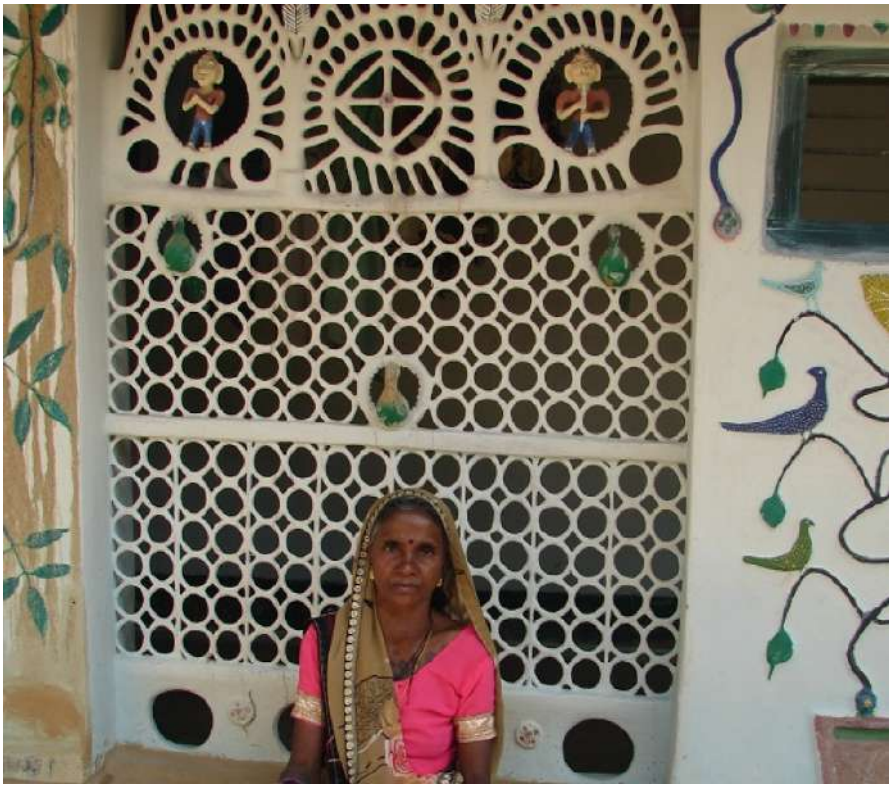

पारम्परिक कलाएँ लाख नवाचार, लाख नई-नई उपज क्यों न कर डालें वे आधुनिक नहीं हो सकतीं।

से एक नतीजा यह भी निकलता था कि इसमें, यानी पारम्परिक कलाओं में एक कलाकार के व्यक्तिगत हस्तक्षेप या उसकी व्यक्तिगत प्रतिभा के लिए कोई ख़ास जगह नहीं बनती है।

तीसरी मान्यता, जो कई तर्क-वितर्क और दलीलों के सहारे आज तक सिर उठाए रहती है, वो यह है, कि आधुनिक कला के बरक्स लोक परम्पराओं का दायरा ख़ासा सीमित या संकुचित होता है। चौथा यह कि पारम्परिक कलाएँ पुराना चावल है, अपनी ख़ास महक और स्वाद लिए हुए, लेकिन यह 'समसामयिक' यानी ठेठ हमारे समय की नहीं हो सकती। पाँचवी मान्यता, चौथी से बिल्कुल सटकर, जुड़कर बैठी हुई बात है कि पारम्परिक कलाएँ लाख नवाचार, लाख नई-नई उपज क्यों न कर डालें वे आधुनिक नहीं हो सकतीं।

उपरोक्त सभी बातें आज कम से कम मेरे और मेरे जैसे कई लोगों के आगे शीर्षासन करती, सिर के बल खड़ी हुई हैं!

भारत भवन, मानव संग्रहालय, क्राफ्ट काउंसिल ऑफ इंडिया, क्राफ्ट म्यूज़ियम आदि अनेक संस्थाओं के द्वारा विगत 25-30 वर्षों के दौरान किए गए संग्रहण, और प्रलेखन (डॉक्यूमेंटेशन) से ऐसे अकाट्य तथ्य सामने आए हैं जो हमारी अब तक की इन लोक व जनजातीय कला परम्पराओं को लेकर जो कॉलोनियल या औपनिवेशिक समझ थी उसे पूरी तरह से ग़लत साबित करते हैं।

किसी चीज़ के सार तत्व, उसके स्वरूप को, उसकी समस्त छटाओं में देखने और समझने के लिए अपार धीरज यानी वर्षों का समय चाहिए होता है। साथ ही एक सहृदय दृष्टि भी चाहिए होती है, जो एक ओर सिर्फ़ मानव शास्त्रीय ऑब्जेक्टिफिकेशन यानी वस्तुकरण से और दूसरी ओर परम्परा की दुहाई देते हुए निहायत भावुक और बेसिर पैर के महिमामंडन, दोनों से समान दूरी बनाए रखे।

जिन कलाकारों के उदाहरण मैंने दिए उनमें से प्रत्येक ने जिस भी कलारूप को अपनाया, उस में आमूलचूल बदलाव किए हैं; जिसके लिए सचमुच 'क्रांतिकारी बदलाव' शब्द इस्तेमाल किया जा सकता है। अधिकांश के बारे में तो यहाँ तक कहना सही है कि उन्होंने एक नई परम्परा, एक नए स्कूल को जन्म दिया है (शांतिनिकेतन या बड़ौदा स्कूल ऑफ आर्ट्स की तर्ज़ पर)। इस बात के ठोस साक्ष्य हैं कि जनगढ़ के पहले, आज हम जिसे 'परधान गोंड चित्रकला' कहकर जानते हैं, उस जैसी किसी भी चित्र शैली का कोई नामों-निशान नहीं था।

आज हम जिसे भील पेंटिंग कहते हैं, वह सच पूछिए तो रूपंकर, भारत भवन के प्रथम निदेशक जगदीश स्वामीनाथन के भूरी बाई बारिया को काग़ज़ और रंग देकर बनवाए गए चित्रों के पहले, अस्तित्व में नहीं थी। (पिठोरा चित्रांकन था, जिसका आनुष्ठानिक महत्व है, किन्तु वह आज के 'भील' चित्रांकन से काफ़ी फ़र्क़ है)। यही कमोबेश मणिपुर की 'बर्निश्ड' यानी घिसकर चमकाई गई पॉटरी, बंगाल के अब प्रसिद्ध 'बोंगा

किसी चीज़ के सार तत्व, उसके स्वरूप को, उसकी समस्त छटाओं में देखने और समझने के लिए अपार धीरज यानी वर्षों का समय चाहिए होता है। साथ ही एक सहृदय दृष्टि भी।

हाथी' की कथा है। इन सभी उदाहरणों से यह साफ़ पता चलता है कि कोई भी परम्परा सिर्फ़ और सिर्फ़ तब तक साँस लेती हुई, जीवित है जब तक वह अपने को 'नया' करती रहती है- पुनराविष्कृत करती है, नित नया खोजती है। और यह ख़ुद को 'नित नया' करना उसके कलाकारों द्वारा ही संभव होता है।

सोना बाई रजवार ने अपने जीवन के घोर व्यक्तिगत अकेलेपन की छटपटाहट के भीतर से एक लोक सिरजा, जिसने उनके भीतर की खाई को कुछ हद तक पाटने का काम किया। हम इसे माने या न माने, 'अकेलापन' और अपने ही भीतर एक 'फाँक' को पाटने की आतुरता के भीतर से एक सर्वथा नए सृजन का परिवेश बने, यह एक आधुनिक संघटना है।

पारम्परिक कलाओं के सन्दर्भ में एक और बात है, जिसे कुछ लोग एक बड़े गुण की तरह, तो दूसरे, उसे कुछ ऐसे रखते हैं कि वह दोषपूर्ण लगने लगती है। यह बात अक्सर कही जाती है कि पारम्परिक कलाओं में कलाकार को अपने व्यक्तिगत नाम की परवाह नहीं होती।

जनगढ़ और भूरी बाई की प्रतिभा का सही-सही आकलन करने वाली आँख निश्चित ही जगदीश स्वामीनाथन जी की थी। पाटनगढ़ के लोगों को भी इस बात का पता था कि जनगढ़ के भीतर एक कलाकार मन है।

इसमें एक हद तक सच्चाई भी है- सोनाबाई या कालीपद के मन में लोगों को यह जताने-बताने में रुचि नहीं थी कि वे अमुक रूपाकार के जन्मदाता हैं। लेकिन, यह पूरा सच नहीं है, क्योंकि प्रायः उनके इलाके के लोग उनकी विशिष्टता, उनके ख़ास अवदान को जानते हैं और इसके लिए उनका सम्मान भी करते हैं। जबकि हम अक्सर इससे यह निष्कर्ष निकालते हैं कि पारम्परिक कलाओं में व्यक्तिगत हस्ताक्षर होता ही नहीं है या कि उसका समाज द्वारा महत्व नहीं आँका जाता।

एक दूसरा निष्कर्ष हम यह भी निकालते हैं कि साधारण जन के पास वह 'पारखी नज़र' नहीं होती है कि वह व्यक्तिगत प्रतिभा को पहचान कर सम्मानित कर सके। जनगढ़ और भूरी बाई की प्रतिभा का सही-सही आकलन करने वाली आँख निश्चित ही जगदीश स्वामीनाथन जी की थी। किन्तु पाटनगढ़ के लोगों को भी इस बात का पता था कि जनगढ़ के भीतर एक कलाकार मन-व्यक्तित्व रहता है। तभी तो, भारत भवन से आए दल को लोगों ने उसका नाम बताया था।

कालीपद के 'बोंगा हाथी' का सृजन तो कई मील दूर से पैदल चलकर आए कुछ संथाली युवकों ने ही करवाया था। ये संथाली युवक कालीपद से अपने बोंगा देव को प्रसन्न करने के लिए एक अलग तरह का हाथी बनवाने मिलों दूर, पैदल चल कर आए थे। उन्हें लक्ष्मी हाथी, पंचमुख हाथी नहीं चाहिए था। वे ऐसा हाथी चाहते थे जो सिर्फ़ बोंगा देव (संथालों के देवता) के लिए ख़ास तौर पर बनाया जाए। एक माह बाद जब संथाली युवक दुबारा कालिपद जी के पास आए तो वे उनकी बोंगा हाथी रूपी बिल्कुल अनूठी सर्जना से इतने पुलकित हुए कि तय की गई कीमत से तीन गुना कीमत अदा कर के अपने गाँव लौटे थे। (यह कथा स्वयं कालिपद जी ने मुझे 1998 में सुनाई थी)

इसी तरह नीलमणि देवी के बनाए मिट्टी के बर्तनों की तीगुनी कीमत उन्हीं के आसपास के गाँव के लोगों ने ख़ुद देना तय किया था। उन्होंने बताया था कि गाँव में उनके काम की जितनी माँग रहती थी, उसे वह कभी पूरा ही नहीं कर पाई!

यह सचमुच देखने वाली पारखी नज़र या आँख कभी कलाकार के ख़ुद के भीतर, तो कभी उस समाज में, तो कभी उस समाज के बाहर किसी स्टेला क्रेमरिश, पुपुल जयकर, स्वामीनाथन, हकु शाह, ज्योतींद्र जैन में अवस्थित रहती है। इस 'दृष्टा आँख' जो अपने समय और स्थान के आरपार तथा उनके परे देख पाती है, के अभाव में दुनिया 'अंधेर नगरी' बन जाने को अभिशप्त है जहाँ, ''टके सेर भाजी, टके सेर खाजा'' ही बाज़ार का नियम होता है और सब कुछ बिकाऊ हो जाता है।

- shampashah@gmail.com

संस्कृत रंगमंच का अस्तित्व परम्परा के बिना है ही नहीं। परम्परा को समझे बिना संस्कृत नाटकों का मंचन असंभव है। यहाँ सम्पूर्ण भारतीय साहित्य, ज्ञान परम्परा और कला परम्परा के संस्कार उजागर हैं।

प्रयोगों का पटल

वार्ता आलेख: **पाँखुरी वक़्त जोशी**

रंगमंच की शताब्दियों से चली आ रही परम्परा में संस्कृत नाटकों के अद्वितीय योगदान को भारत ही नहीं, वैश्विक परिदृश्य में ठीक से देखने-जाँचने की ज़रूरत है। लोक से लेकर शास्त्र तक विभिन्न शैलियों और मुहावरों में ढलते संस्कृत नाटकों की अहमियत इस अर्थ में अधिक है कि संस्कृति अपनी समग्रता में यहाँ उद्घाटित होती है। यह आदर्श जीवन मूल्यों की जीवन्त पाठशाला है। सम्भावना की रंगभूमि, जहाँ आधुनिक रंगमंच की तमाम चकाचौंध के बीच सात्विक नवाचार की जगह सदैव बनी हुई है। ...आचार्य कमलेश दत्त त्रिपाठी और राधावल्लभ त्रिपाठी जैसे संस्कृत के वरेण्य अध्येताओं तथा सतीश दवे, धनंजय और राजेन्द्र अवस्थी जैसे सक्रिय रंगकर्मियों से युवा रचनाकार पाँखुरी वक़्त जोशी की वार्ता संस्कृत रंगमंच की परंपरा, प्रयोग और उसकी सम्भावना को समकाल में समझने के सूत्र देती है।

रसानुभूति का रंगमंच

कमलेशदत्त त्रिपाठी

उत्तर में रामलीला, रास आदि देवालय से सम्बद्ध शैलियाँ तथा नौंटकी, ख्याल, माच, नाचा, तमाशा भवाई आदि देवालय के बाहर विकसित शैलियाँ भी उसी संस्कृत नाट्य परम्परा का अलग-अलग समय में पूरे देश में अलग-अलग प्रदेशों और भाषाओं में आज भी उपलब्ध नाट्य विधाएँ हैं।

'संस्कृत नाट्य' का अनुभव रसात्मक न हो, तो ये 'नाट्य' अपना काव्यार्थ खो देते हैं। अत: इस सरस परम्परा को पहले पहचानना आवश्यक है। आज यह परम्परा मूल संस्कृत 'नाट्य' परम्परा के रूप में केरल में 'कुडियाट्टम' के रूप में बची है। उत्तर में वह 'अंकिया नाट्य' की परम्परा में असम में सुरक्षित है। इस परम्परा में भाषा तो 'ब्रजबुली' (ब्रज बोली) कहलाती है, किन्तु उसका 'संस्कृत नाट्य' का स्वरूप (ढाँचा और अनुभव) तथा प्रयोग दोनों ही सुरक्षित है।

'कुडियाट्टम' तथा 'अंकिया नाट्य'- दोनों ही नाट्यशास्त्रीय परम्परा के उदाहरण हैं। वैसे दक्षिण और उत्तर में लोकनाट्य रूप उसी नाट्यशास्त्रीय परम्परा के रूप हैं- विकसित रूप, जिन पर अपने-अपने अंचल का मूल वर्तमान है। इस पृष्ठभूमि में कालिदास समारोह 1958 से लेकर अब तक हुई संस्कृत नाटकों की मूल तथा अनुवाद में की गयी प्रस्तुतियों के आलोक में संस्कृत नाट्य का पारम्परिक स्वरूप और उसमें विद्यमान गतिशीलता दोनों को ही समझा जा सकता है। यदि आपने 'कुडियाट्टम' देखा है, तो उसकी प्राचीन सुरक्षित शैली, उसकी अत्यन्त परिष्कृत रंगभाषा, उसकी अपनी प्रादेशिक परम्परा, जड़ें, अभिनय पद्धति, सौन्दर्य विधान तथा उसका अनुभव अर्थात रस के अनुभव को समझा जा सकता है। यह परम्परा दक्षिण में सुरक्षित है। इसी प्रकार यदि अंकिया नाट्य की प्रस्तुति अथवा मणिपुर का रास आपने देखा है, तो उत्तर में सुरक्षित परम्परा को भी समझ सकते हैं। इसी तरह दक्षिण की यक्षगान, कथकली, कुरुवंजी, कुचुपुडी, भरतनाट्यम् आदि लोक तथा शास्त्रीय शैली संस्कृत नाट्य की कालक्रम में विकसित हुई शैलियाँ हैं। उत्तर में रामलीला, रास आदि देवालय से सम्बद्ध शैलियाँ तथा नौंटकी, ख्याल, माच, नाचा, तमाशा भवाई आदि देवालय के बाहर विकसित शैलियाँ भी उसी संस्कृत नाट्य परम्परा का अलग-अलग समय में पूरे देश में अलग-अलग प्रदेशों और भाषाओं में आज भी उपलब्ध नाट्य विधाएँ हैं।

भारत में लगभग ढेड़ सौ साल से प्रचलित कर रंगद्वारी (प्रोसीनियम) के लिये संस्कृत रंगमंच और उसमें निहित रंगकर्म तथा रंग अनुभव की अत्यंत प्रासंगिकता है। उज्जैन में होने वाला यह कालिदास समारोह इस अर्थ में जीवन्त पाठशाला ही रहा। म.प्र. संस्कृति विभाग के अन्तर्गत स्थापित कालिदास अकादेमी द्वारा चार दशकों की उत्सवी यात्रा में संस्कृत रंगमंच अपनी प्रामाणिकता में जागृत रहा है। संस्कृत रंगमंच ही नहीं, सम्पूर्ण भारतीय साहित्य, ज्ञान परम्परा और कला परम्परा के लिये आज भी अपरिहार्य और प्रासंगिक है।

कुडियाट्टम शैली में निबद्ध संस्कृत नाटक

महामात्य वत्सराज का नाटक, हास्यचूड़ामणि का एक दृश्य

समृद्ध प्रयोगों का फ़लक

राधावल्लभ त्रिपाठी

संस्कृत रंगमंच मात्र मनोरंजन के लिए नहीं है, पुरुषार्थ बोध के लिए भी वह होना चाहिए। जीवन मूल्यों की सृष्टि उससे होती है। भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों उसमें सम्मिश्रित हो जाते हैं। यहाँ नाट्य एक यज्ञ बन जाता है। वह मनुष्य समाज को मुक्त करता है। वह चेतना के बन्धनों को तोड़ता है और सम्पूर्ण सृष्टि के बीच मनुष्य को प्रतिष्ठित करता है।

संस्कृत रंगमंच का दिक़-काल बोध अलग होता है। कांसेप्ट ऑफ टाईम एण्ड स्पेस अलग होता है। उसका रंगानुभव भी अलग होता है, थियेटर का अनुभव भी अलग होता है। चक्रीय गति उसमें समय की हो सकती है, यथार्थ की उसमें हुबहू अनुकृति नहीं होती। तीन लोकों के भावों का अनुकीर्तन उसमें होता है तो संसार के सारे भाव साधारणीकरण की प्रक्रीया से सार्वजनीन बनकर प्रेक्षक के अनुभव का हिस्सा बन जाते हैं। प्रयोग और प्रेक्षक के अभिनेता और प्रेक्षक के रिश्ते भी इसमें अलग हो जाते हैं। इस दृष्टि से संस्कृत रंगमंच की एक ख़ासियत है और इसको स्वीकार किया जाना चाहिए।

संस्कृत रंगमंच की अवधारणा को अपनाकर जो प्रयोग किए गए हैं, उनमें तीन पक्ष सामने आए हैं एक तो भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में प्रतिपादित नाट्य मण्डप का ढाँचा बनाकर उस पर नाटक खेलने का प्रयास किया गया। गोवर्धन पांचाल ने इस तरह का प्रयोग किया। राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय में भी विभिन्न प्रकार के प्रयोग हुए। उसमें रंगपीठ, रंगशीर्ष, मत्तवारिणी, स्वप्नाकृति पीठ वाला प्रेक्षागार, कक्षाविभाग और जवनिका इसको भरतमुनि ने जैसा बताया है उसके अनुसार अपनाकर नाटक खेलने का प्रयास किया गया। यह एक उसका चरण था। दूसरा चरण यह था कि भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में निरूपित जो अभिनय की प्रविधियाँ हैं, विशेष रूप से आंगिक अभिनय की प्रविधियाँ उनमें से कितनी कोटियों को अपनाया जा सकता है। अपार कोटियाँ हैं, बहुत सारा वर्गीकरण है। 64 हस्त हैं, उनमें से कुछ चुने हुए हस्त कुछ लेकर हम नाटक में उनका प्रयोग आरम्भ करें। 13 प्रकार के शीर्ष हैं, 36 प्रकार की दृष्टियाँ हैं। इनका यथासंभव प्रयोग करते हुए नाटक के विभिन्न दृश्यों में इस प्रकार से हम इनको स्वीकार करके किसी दृश्य को साकार कर सकते हैं। वाचिक अभिनय में भी भरतमुनि ने विस्तार से बहुत सूक्ष्म दृष्टि से विधि-विधान बताएँ हैं। काकू हैं, पाठ्यालंकार हैं और आहार्य अभिनय की प्रविधियाँ उनकी बहुत ही जटिल और विस्तृत भी हैं। बहुत वैज्ञानिक दृष्टि से उन्होंने आहार्य अभिनय का निरूपण

> नाट्यशास्त्र एक पोथी नहीं है, वह एक परम्परा है। यह परम्परा सम्पूर्ण भारत में प्रचलित रही है। जो शास्त्र में नहीं बताया गया है उसको लोक में खोजने पर नाट्यशास्त्र बल देता है। लोक में उसे कैसे और कहाँ खोजा जाए इस सन्दर्भ में भरतमुनि बताते हैं। जीवन का जो समग्र बोध हमसे छूट गया है और बाकी सृष्टि से हमारा जो सम्बन्ध टूट गया है वह इस रंगमंच की धारा में बना हुआ है।

भी किया है। यह दूसरा पक्ष था कि अभिनय में प्रविधियों का उपयोग किया जाए और किस सीमा तक उपयोग हो सकता है उसकी सम्भावनाएँ तलाशी जाएँ। एक तीसरा पक्ष और सामने आया, यह दोनों पक्ष स्थूल उपादानों पर अधिक निर्भर हैं। तीसरा पक्ष सूक्ष्मतर और अन्तरंग तत्व को स्वीकार करता है। नाट्यशास्त्र में जो भावानुकीर्त्तन के द्वारा भाव जगत की उपस्थिति और पुनः उसकी रचना, दिए हुए संसार के पीछे जो एक रचनाकार का स्वातंत्र्य और अन्तर्निहित जीवन बोध और सृष्टिबोध है उसको उतारने का प्रयास। ये तीन पक्ष हो सकते थे।

तीनों में मुख्य बात यही है कि जो संस्कृत रंगमंच है वह मात्र मनोरंजन के लिए नहीं है। मनोरंजन भी उसका एक पक्ष है, पुरुषार्थ बोध के लिए वह होना चाहिए। जीवन मूल्यों की सृष्टि उससे होती है, उसमें इकहरा समय नहीं होता। इसमें त्रिलोकी उतरती है। भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों उसमें सम्मिश्रित हो जाते हैं। तीनों लोक उसमें उपस्थित हो जाते हैं। रंगमंच उसमें एक साधना है। नाट्य एक यज्ञ बन जाता है। वह मनुष्य समाज को मुक्त करता है। वह मुक्ति के लिए होता है। वह चेतना के बन्धनों को तोड़ता है और सम्पूर्ण सृष्टि के बीच मनुष्य को प्रतिष्ठित करता है। जो भरतमुनि का रंगमंच है, जो संस्कृत रंगमंच है वहाँ प्रकृति और मनुष्य अलग-अलग नहीं हुआ करते। संस्कृत नाटक में भी प्रकृति मनुष्य से सम्बद्ध है। भरतमुनि की रंगमंच की परिकल्पना में तो पशु-पक्षियों, पेड़-पौधों को भी अभिनेता साकार कर सकता है, अपनी काया से। रंगमंच में पशु-पक्षी और प्रकृति सब सजीव हो जाते हैं। संस्कृत नाटकों में भी यह दृश्य आते हैं और संस्कृत रंगमंच में इनकी सम्भावनाएँ बनती हैं। यह सारी अवधारणाएँ जिस रंगमंच में प्रतिफलित होंगी वह संस्कृत रंगमंच कहलाएगा। उसमें प्रयोगों की, नवाचार की और नए प्रयोग करने की भी सम्भावना बनी हुई है। इस पर सवाल उठाया जा सकता है कि जिस जीवन चर्या की बात संस्कृत रंगमंच में की गयी है वह यज्ञ स्वरूप है और मूल्यबोध को, पुरुषार्थ बोध को प्रतिष्ठित करता है। वह सत्व बोध तो हमारे जीवन से लुप्त होता चला गया है तो अब उसकी आवश्यकता ही क्या आज के रंगमंच के लिए रह गयी है? तो क्या उसकी सम्भावना है? इस तरह के प्रयोग किए जाने चाहिए और किए जा सकते हैं? यह प्रश्न अपने आप में निरस्त हो जाता है क्योंकि इस तरह के प्रयोग तो किए जा रहे हैं और वह प्रशंसित भी हो रहे हैं।

कावालम् नारायण पणिक्कर, कमल वासिष्ठ, शान्ता गाँधी, विजया मेहता आदि ने संस्कृत नाटकों के और अन्य भाषाओं के नाटकों के जो भी प्रयोग किए तो उनमें कहीं-न-कहीं नाट्यशास्त्र का मूल्य ख़ुद आता है, उसकी पद्धतियाँ आती हैं। कहीं-कहीं यह अनजाने आती हैं। लोकनाट्य उनका सम्पर्क है। लोकनाट्यों में भी भरतमुनि की जो चेतना है रंगमंच की वह संक्रान्त होकर के चली आयी है। यक्षगान, कथकली, कुडियाट्टम आदि में। यह जो भारतीय शास्त्रीय रंगमंच और लोक नाट्य के बीच की कड़ियाँ जोड़ने वाले रंगमंच के प्रस्थान हैं उनमें भी नाट्य शास्त्र की परम्पराएँ जीवित हैं तो जो रंगकर्मी उनसे परिचित हो कर रंग व्यवहार करते आ रहे हैं और जो नाटक खेलते हैं, उनमें भी संस्कृत रंगमंच का एक रूप सामने आता है। ऐसे रंगमंच की अभी आवश्यकता है क्योंकि वह हमको संकीर्ण दुनिया से एक बड़े संसार में ले जाता है। रंगमंच की बड़ी दुनिया और बड़ी सम्भावना वह बनाता है। नाट्यशास्त्र बंधी बंधायी तकनीकों तक सीमित नहीं है।

नाट्यशास्त्र एक पोथी नहीं है, वह एक परम्परा है। यह परम्परा सम्पूर्ण भारत में प्रचलित रही है, उनकी शेष कथा भी नाट्यशास्त्र इंगित करता है। और जो शास्त्र में नहीं बताया गया है उसको लोक में खोजने पर नाट्यशास्त्र बल देता है। लोक में उसे कैसे और कहाँ खोजा जाए इस सन्दर्भ में प्रतियों और प्रवृत्तियों के स्वरूप के निरूपण में भरतमुनि बताते हैं। प्रयोगशीलता की चेतना को रंगमंच की चेतना से जोड़ने का शास्त्र नाट्यशास्त्र है और उस चेतना को फिर प्रेक्षक की चेतना से जोड़ने का शास्त्र है तो उसके पीछे जो जीवन दृष्टि है, जो मूल्य बोध है, उसकी हमें आज आवश्यकता है। जीवन का जो समग्र बोध हमसे जीवन का छूट गया है और बाकी सृष्टि से हमारा जो सम्बन्ध टूट गया है वह इस रंगमंच की धारा में

बना हुआ है। फिर से उसका एहसास, उसका अनुभव हमें प्राप्त हो सके इसके लिए नाट्यशास्त्र और संस्कृत रंगमंच की आवश्यकता है। उसकी सम्भावनाएँ और उसमें नवाचार की सम्भावनाएँ भी बहुत हैं।

संस्कृत रंगमंच हमारे समय में सम्भव है और व्यवहार में उतारा भी जा रहा है और उतरता है तो अतीत की अनुकृति नहीं होगी, अतीत की नक़ल नहीं होगी। ऐसी नक़ल वह नहीं होगी जिसमें नयापन न हो, उसमें नए प्रयोग की गुंजाईश सदैव रहेगी। उसमें शास्त्र की जड़ता और स्थिरता के कारण वह अनाकर्षक हो जाएगा, ऐसा नहीं मानना चाहिए। उसमें नए प्रयोग की सम्भावना रहेगी। जो प्रयोग किए गए हैं नाट्यशास्त्र सम्मत प्रयोग से बताए जा सकते हैं। कावालम् नारायण पणिक्कर भरतमुनि की अवधारणा को लेते हैं, लेकिन वे उसको बहुत गतिशील बनाते हैं। इसकी कई व्याख्याएँ वे अपने ढंग से करते हैं। स्वप्नदृश्य में 'स्वप्नवासवदत्तम्' में एक स्वप्न की कक्षा है जिसमें सपना देखा जा रहा है और एक उस स्वप्न से बाहर आने की कक्षा है। आवेश में पहुँचने की कक्षा और आवेश से मुक्त होने की कक्षा है। यह कक्षाएँ बनाते हुए जो भरतमुनि ने बतायी हैं वह उसको बंधी-बंधाई लीक जो भरतमुनि की है उस तक सीमित नहीं रहने देते। उसकी गत्यात्मकता हमारे समय में कितनी है, इसको बताते हैं। मत्तवारिणियों का भी उसी प्रकार से प्रयोग करते हैं। मत्तवारिणियों को भी वे गतिशील बना देते हैं। यह सम्भावना नाट्यशास्त्र में ही है क्योंकि भरतमुनि तो कहते ही हैं कि केवल शास्त्र तक ही सीमित मत रहो, अपनी चेतना में झाँक करके देखो कि कैसे बन्धनों से मुक्त किया जा सकता है इसीलिए 'लोको वेदस्थ तथाध्यात्म, प्रमाणम् त्रिविदम् स्मृतम्' यानी लोक, वेद और अध्यात्म यह तीन प्रमाण इस शास्त्र में हैं। लोक तो जो संसार है उसमें व्यवहार होता है, उसको देखकर फिर रचता है रंगमंच पर। दूसरा शास्त्र में जो बताया गया है, नाट्यवेद में जो सनातन ज्ञान चला आ रहा है। यह वेद और अध्यात्म जो अपने भीतर देखकर रचता है फिर से।

यह तीनों प्रमाण हैं। इन तीनों प्रमाणों के द्वारा नाट्यशास्त्र में नवाचारों की गुंजाईश भी रहती है और परम्परा का सातत्य भी रहता है। सम्भावना भी रहती है। हम ब.व. कारंत को नमन करते हैं। यक्षगान की शैली में मैक्बेथ का अनुवाद, उसमें भी संस्कृत नाटक न हो कर अंग्रेज़ी का नाटक लिया गया तो कोई आधुनिक नाटक भी लिया जा सकता है और उसको नाट्यशास्त्र सम्मत विधि-विधान से हम करें, उसमें अभिनय की पद्धतियाँ भी नाट्यशास्त्र की हम कहीं-कहीं अपनाएँ।

गरिमा बची रहे!

सतीश दवे

प्रयोगों की भी कोई सीमा होना चाहिए। हम उस भारतीय परम्परा की गौरवमयी मर्यादा को जानकर उसके अन्दर छिपे हुए रत्नों को सबके सामने उजागर करें, ना कि यह कहें कि जो हम कर रहे हैं वही मणि रूप में प्रकाशमान होगा।

कुछ विद्वान समीक्षकों का मानना है कि संस्कृत एक मृत भाषा है और अब इसका उपयोग बहुत अधिक नहीं किया जा सकता है। मेरा मानना है कि कोई भी भाषा मृत नहीं हो सकती समय के प्रवाह में वह बर्फ़ हो सकती है लेकिन जैसे ही उसे ऊर्जा मिलती है संवेदनाओं की, भावनाओं की वह पुनः जीवित प्रवाहमान हो जाती है। आज स्थिति चाहे कमज़ोर हो गई हो और यह कमज़ोरी दिखाई देने वाली कमज़ोरी है क्योंकि नई शिक्षा नीति में इस तरह की सम्भावनाओं को प्रकट किया गया है कि वो तो संस्कृत को पुनः अपना गौरवपूर्ण स्थान दिला सके और इसलिए जिस तरह से भाषा का विकास होगा उस संस्कृत रंगमंच का भी विकास निश्चित होगा। बहुत सारे प्रयोग तकनीक को लेकर भी हुए हैं जिसमें संस्कृत के रंगमंच को ज़्यादा विविधता प्रदान की है। लाइट और साउण्ड को लेकर, म्यूज़िक को लेकर, वेशभूषा को लेकर कुछ प्रयोग किए गए हैं जो हमें आश्वस्त करते हैं कि संस्कृत का रंगमंच सदैव जीवित रहेगा। यह बात भी सही है कि कुछ अटपटे प्रयोग भी हुए हैं जो सामान्य संस्कृत के दर्शकों को नागवार लगे। एक प्रयोग यह भी हुआ था कि राम और सीता को जींस पहनाकर महाकवि कालिदास के रंगमंच पर उतार दिया था। जो संवेदनशील दर्शक हैं उन्हें यह अच्छा नहीं लगा था। प्रयोगों की भी कोई सीमा होना चाहिए या मर्यादा होना चाहिए। इसमें कहीं हमें संकोच होना भी नहीं चाहिए। हम उस भारतीय परम्परा की गौरवमयी मर्यादा को जानकर उसके अन्दर छिपे हुए रत्नों को सबके सामने उजागर करें, ना कि उल्टी तरह से हम यह कहें कि जो हम कर रहे हैं वही मणि रूप में प्रकाशमान होगा।

सरलता का धरातल

धनंजय

सिर्फ़ इतिहास का ज्ञान देना या सिर्फ़ उसमें प्रवचन देना एक तरह से नाटककार का उद्देश्य नहीं हो सकता मनोरंजन भी उसका उद्देश्य है। नाटक में सारे शिल्प, सारी विधाएँ, सारी कलाएँ समाहित है, तो इन सब का उपयोग करके इस संस्कृत रंगमंच की परंपरा को जीवित रखना आवश्यक है। सुखद बात यह है कि अनेक रंगकर्मी इस प्रयोग में इसे आगे बढ़ाने के लिए निरन्तर प्रयासरत हैं।

जब मैं संस्कृत रंगमंच की बात करता हूँ तो मेरा आशय सिर्फ़ एक भाषाई रंगमंच से ना होकर भारतीय रंगमंच से होता है। सामान्य रूप से संस्कृत रंगमंच उसी को माना जाता है जो संस्कृत भाषा में किया जाता रहा हो लेकिन मेरा मानना है कि संस्कृत रंगमंच एक तरह से भारतीय रंगमंच का संपूर्ण या समग्र रूप प्रस्तुत करता है। उसमें अनेक भाषाएँ रही होंगी जिनके अभी हमें नाम भी नहीं मालूम लेकिन वे सभी संस्कृत रंगमंच के अन्तर्गत ही आती होंगी। हमें यह भी मान लेना चाहिए कि देश के अनेक हिस्सों में इस तरह के रंगमंच निश्चित रूप से पारम्परिक रूप से सक्रिय रहे थे। भौगोलिक स्थितियाँ चाहे जैसी रही हों लेकिन सूत्र रूप में संस्कृत रंगमंच उन्हें एक शक्ति प्रदान करता रहा था। वह चाहे भरत के नाट्य शास्त्र के अनुरूप हो या नहीं हो। देशीय और मार्गी परम्परा के बारे में स्वयं भरत ने भी कहा है, तभी आवश्यक हो जाता है हमारे लिए जानना कि संस्कृत रंगमंच उस समय जिस तरह से सक्रिय था? आज यह सक्रिय क्यों नहीं है या क्या इसमें संभावनाएँ बची हैं या एक मृतप्राय रंगमंच होकर हम सिर्फ़ उसे ढो रहे हैं? रंगमंच चाहे सिर्फ़ एक भाषा, चाहे सिर्फ़ एक देश का हो या एक विशेष भूभाग का हो, वह सामान्य रूप से कभी मरता नहीं हैं। उसके अन्दर चिंगारी, ऊर्जा हमेशा रहती है, जो उसे कभी भी जीवित कर सके। संस्कृत रंगमंच तो एक तरह से एक ऐसी परम्परा है जिसमें अनेक नदियाँ आकर मिलती हैं और जो एक महानद का आकार ग्रहण कर लेता है। अनेक जगहों पर जिस तरह के प्रयोग किए जा रहे हैं, चाहे उनके दर्शकों की मात्रा बहुत सीमित हो परन्तु यह निरन्तर चलने वाला प्रयास है।

भोपाल के राष्ट्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय ने आधुनिक विषयों को लेकर अनेक प्रयोग किए हैं। उसी तरह से मुम्बई में, केरल में यहाँ तक कि तमिलनाडु में भी संस्कृत नाट्यों की एक नई परम्परा की शुरूआत हुई है। मैं मानता हूँ कि संस्कृत को समझने वाले दर्शक अब कम रह गए हैं। ऐसे में ऐसा प्रयास करना चाहिए कि वह अन्य भाषा जानने वाले लोगों के भी लिए भी सरल हो जाए। सरलता से ग्रहण कर सकें दर्शक। यह संस्कृत रंगमंच को आगे बढ़ाने की प्रक्रिया में एक महत्वपूर्ण क़दम भी होगा। क्योंकि प्राचीन परम्परा में इस तरह की अनेक रूढ़ियाँ थीं, आज जिनका पालन किया जाना सम्भव नहीं है। चाहे हम पूर्वरंग की बात करें या नांदी की बात करें या छह सात अंकों के एक पूरे नाटक की बात करें। नागरिक सभ्यता में इतनी देर तक नाटक देखना बहुत अधिक सम्भव नहीं हो पा रहा है। हालाँकि बहुत सारे प्रयोग ऐसे भी हुए हैं जो तीन घण्टे के नाटक दिखाते हैं लेकिन सामान्य रूप से यह अभी सम्भव नहीं हो रहा है। ऐसे में उन नाटकों की समय सीमा को कम किया जाना चाहिए। यह प्रयोग कई जगह हुए हैं। महाकवि कालिदास के लम्बे नाटक संक्षेप रूप में प्रयोग करने के लिए कमलेश दत्त त्रिपाठी, श्रीनिवास रथ जैसे मूर्धन्य विद्वानों ने उनकी कथा को संक्षिप्त करके प्रस्तुत किया है। हम यह नहीं कह सकते कि इससे महाकवि कालिदास की जो रचना प्रक्रिया है या रचना धर्मिता है उसको कहीं बाधित किया गया हो या उसका परिष्कार करके नए रूप में प्रस्तुत किया है, सिर्फ़ उसकी समय सीमा को कम करने का एक छोटा-सा प्रयोग किया गया है। कुछ आलोचकों ने इस पर

रंगमंच चाहे एक भाषा, चाहे सिर्फ़ एक देश का हो या एक विशेष भूभाग का हो, वह सामान्य रूप से कभी मरता नहीं है उसके अन्दर चिंगारी, ऊर्जा हमेशा रहती है जो उसे कभी भी जीवित कर सके। संस्कृत रंगमंच तो एक ऐसी परम्परा है जिसमें अनेक नदियाँ आकर मिलती हैं। वह एक महानद का आकार ग्रहण कर लेता है।

नाटक– कर्णभारम

पणिक्करजी ने जिस तरह से दक्षिण भारतीय संगीत और वाचिक परम्परा का प्रयोग करके इन्हें रोचक बनाया है। यह हमें बताता है कि हम इस प्रकार के प्रयोग भी कर सकते हैं। हमें लगता है कि ये सारी सम्भावनाएँ आज के युग के लिए बहुत सामयिक हैं।

अपनी नाराज़ी व्यक्त की थी कि हम क्यों महाकवि कालिदास को संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत करना चाहते हैं? मेरा मानना है कि नाटक दर्शकों के बिना अधूरा है और यदि दर्शक 3 घण्टे का नाटक नहीं देख सकते तो हमारा यह कर्तव्य बन जाता है कि हम उस निश्चित समय सीमा में कालिदास की जो अप्रतिम प्रतिभा है उसको सबके सम्मुख रख सकें। पणिक्करजी ने जिस तरह से दक्षिण भारतीय संगीत और वाचिक परम्परा का प्रयोग करके इन्हें रोचक बनाया है। यह हमें बताता है कि हम इस प्रकार के प्रयोग भी कर सकते हैं। हमें लगता है कि ये सारी सम्भावनाएँ आज के युग के लिए बहुत सामयिक हैं। भाषाई सौन्दर्य अपने आप में बहुत महत्वपूर्ण होता है लेकिन जिस तरह से मोबाइल ने भाषाओं का एक मिश्रित रूप हमारे सामने रख दिया है तो वह हिन्दी न रहकर कुछ इस तरह की भाषा हो गई है जिसके बारे में कोई नाम दिया जाना उचित नहीं होगा। ऐसे में सिर्फ़ एक भाषा या हमारी प्राचीन गौरवमयी भाषा संस्कृत को लेकर उसकी शुद्धता के बारे में बहुत अधिक संकुचित रूप से देखेंगे तो कहीं ना कहीं उन प्रयासों को बाधा होगी। यह संस्कृत रंगमंच को ज़्यादा से ज़्यादा दर्शकों तक पहुँचाने की प्रक्रिया में सहायक है। नये बच्चों के लिए संस्कृत उच्चारण बहुत मुश्किल हो गए हैं क्योंकि उन्हें आरम्भ से ही कभी इस बारे में नहीं बताया गया। मेरा तो मानना है कि संस्कृत के उच्चारणों की कक्षा की शुरूआत की जाए। पाणिनी की व्याकरण का पालन छुटपन से किया जाए।

भाषा नहीं, तो रंगमंच नहीं

राजेन्द्र अवस्थी

संस्कृत का रंगमंच देवों के रसास्वादन का, मनोरंजन का प्रकल्प था। बाद में यह राजदरबार की शोभा बना। उसे राजप्रश्रय भी मिला। लेकिन हनन होता रहा परम्पराओं का। उसी संस्कृत रंग परम्परा को निभाने की हम कोशिश कर रहे है।

संस्कृत रंगमंच की तो अपनी एक विशाल रंग परम्परा है। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में जिस तरह के संस्कृत रंगमंच का उल्लेख है उसे हम निर्मित कर ही नहीं सकते। जैसा विधान संस्कृत रंगमंच का भरतमुनि ने बताया है वैसा हमने भी इस पृथ्वी पर न कहीं देखा है, न सुना है। संस्कृत रंगमंच देवताओं के रसास्वादन का, मनोरंजन का, प्रकल्प था। बाद के समय यह राजाओं के राजदरबार की शोभा बना और उसे राजप्रश्रय भी मिला पर परम्पराओं का हनन होता रहा और हम उसी संस्कृत रंग परम्परा को निभाने की कोशिश कर रहे हैं। बिना मानव समूह के यह सम्भव नहीं है और फिर बात संस्कृत रंगमंच की तो वह रंगसमूह भी गायन, वादन, नर्तन में कुशल हो। सबसे महत्वपूर्ण संस्कृत भाषा का ज्ञान, उसके उच्चारण का सही तरीक़ा। कुल मिला कर निष्ठावान, समर्पित और लगनशील मानव रंगसमूह हो तो गुंजाइश दिखाई दे सकती है। इसके लिये राजकीय सहयोग की अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका हो। कुछेक संस्कृत संस्थानों, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय और कुछेक रंग संस्थाओं द्वारा संस्कृत रंगमंच के लिये निरन्तर प्रयास किये जा रहे हैं पर वे समाज में अपनी पहचान नहीं बना पा रहे हैं। सबसे बड़ा कारण सामान्यजन में संस्कृत भाषा के ज्ञान का अभाव है। संस्कृत भाषा और संस्कृत रंगमंच दोनों एक–दूसरे के पर्याय हैं।

- pankhuriwaqtjoshi@gmail.com

जलतरंग: लेखक- संतोष चौबे, निर्देशन- अशोक मिश्रा

नए मिज़ाज का नाटक

आलोक चटर्जी

कलाओं के विभिन्न माध्यमों में इसके गहरे निहितार्थ हैं। जहाँ तक रंगमंच की बात करें तो पूरे देश में इस समय सर्वाधिक सक्रियता इसी माध्यम में स्पष्ट दिखाई देती है, परन्तु सक्रिय होने भर से सार्थकता भी मिलती हो, यह दीगर प्रश्न है।

पारम्परिक रंगमंच आज भी देश के विभिन्न शहरों और क़स्बों में है, वहाँ जैसे 70-80 के दशक में रंगमंच होता था, जैसे पारिवारिक, सामाजिक कहानी को कहने का तरीक़ा और अन्दाज़ था, उसे उसी सहजता और सरलता के साथ प्रस्तुत किया जा रहा है। बड़े शहरों में संस्कृत रूपकों को लेकर भी के.एन. पणिक्कर की शैली या स्मृति शेष नरेन्द्र शर्मा की छाऊ आधारित प्रस्तुतियाँ अभी भी हो रही हैं, हालाँकि उसके पीछे विचार का पक्ष कम या कमज़ोर है। गाँव-देहातों में लोक नाट्य शैलियों जैसे माच, नाचा, नौटंकी, जात्रा आदि में शहरी प्रभाव और संगीत का अधिक असर आ गया है, मूल वाद्ययंत्र भी लुप्त होते जा रहे है और उसके स्थान पर गिटार, बैंजो, की बोर्ड भी आ गए हैं। कुल मिलाकर परम्परा बदल गई है और उसे अत्यन्त लचीले रूप में स्वीकार कर लिया गया है।

समकालीन रंगमंच में राजनैतिक विचारों का ज़ोर या आग्रह दिखाई देता है और प्रतीकात्मक या स्केलेटन सेट पर अधिक ध्यान दिया जा रहा है। समकालीन घटनाओं पर भी टिप्पणियाँ प्रस्तुति के माध्यम से ही दी जा रही है, वहीं गम्भीरता से परम्परा को भी नया कलेवर कुछ नाट्य मंडलियाँ दे रही हैं। कहानी का रंगमंच सभी भाषाओं में ज़ोर-शोर से चल रहा है और इसकी परिधि में महानगरों से लेकर छोटे शहर और क़स्बे

भी शामिल हैं। यह सुविधाजनक भी है, इसमें प्रोडक्शन ख़र्च भी कम है और सहजता भी अधिक है। साथ ही प्रस्तुति अवधि भी कम है, अत: यह ख़ुद लोकप्रिय हो गया है। हालाँकि अभिनेता की उपस्थिति केन्द्र में है परन्तु कोई बड़ा अभिनेता या अभिनेत्री इसके माध्यम से अभी तक नहीं उभरे हैं। कुछ मीडियाकर भी इनका ख़ूब प्रयोग कर रहे हैं। समकालीन रंगमंच में नाट्य समारोहों, प्रस्तुतियों की बाढ़ आ गई है और किसी विचार का वहाँ होना लगभग समाप्त होता जा रहा है। मेरा यह भी मानना है कि अब दिल्ली, कलकत्ता, मुम्बई, पूना, हैदराबाद के स्थान पर छोटे-शहर अधिक महत्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं। वहाँ दर्शकों की संख्या भी अधिक है और उनके उत्साह और नाटक देखने की भूख भी अधिक है। मीडिया को इस पर अधिक ध्यान देने और उनका उत्साह बढ़ाने की आवश्यकता है। चकाचौंध से दूर शौक़िया रंगकर्म अधिक सार्थक और समकालीन है। रंगमंच की सरलता और सहजता को यहाँ अधिक घनीभूत रूप में देखा जा सकता है। आर्थिक अभाव में वे अधिक कल्पनाशील ढंग से नाट्य रूपों को प्रस्तुत कर रहे हैं और नवीन प्रयोग से भी वे नहीं घबराते। आलेखों की उपलब्धता वहाँ कम है, इस ओर भी ध्यान दिया जाना चाहिए। अपने स्थानीय सामाजिक नायकों, आज़ादी के परवानों पर भी ख़ूब काम हो रहा है और आँचलिक बोलियों में समकालीन रचनाओं के लय, पारम्परिक आलेखों को भी समाविष्ट कर लिया गया है, इसमें उनकी शक्ति बढ़ी है।

रूपसज्जा, वेशभूषा पर अधिक ध्यान दिया जा रहा है, इससे प्रस्तुति की मौलिकता और विशिष्टता बढ़ी है। स्टेज लाईटिंग में एल.ई.डी. लाइट्स और फॉग-मशीन का प्रयोग शहरी रंगमंच में इतना अधिक हो गया है कि यह बात भुला दी गई है कि ये नाटक का नहीं, ऑक्रेस्ट्रा का उपकरण है। बन्द वातानुकूलित प्रेक्षाग्रहों में इसमें दर्शकों को साँस सम्बन्धी समस्याओं का भी सामना करना पड़ता है। वहाँ दर्शकों की आँखों पर पड़ने वाली एल.ई.डी. लाइट्स भी एक समस्या ही है। स्पॉट लाइट्स और स्पेस डिज़ाइन करने वाली लाइटिंग अब कम ही देखने मिलती है। इसलिए समकालीन रंगमंच में लाइट डिज़ाइनर कम हैं। इलेक्ट्रानिक बोर्ड पर पर्ची चिपकाकर लाइट अरेंजर अधिक। आलेख नए भी हैं और सत्तर के दशक के लोकप्रिय नाटक भी परन्तु उसमें कोई नयापन बहुत कम ही नज़र आता है।

अब यदि बात करें नवाचार की तो नवाचार सबसे कम हैं। जो हैं उनमें सार्थकता कम, चमत्कार अधिक दर्शाने की चेष्टा है। रंगमंच कोई जादूगरी का, जगलरी का माध्यम नहीं है। यहाँ सबसे महत्वपूर्ण है विचार और भावनाओं का सहज, स्वाभाविक प्रकटन और निर्देशकीय व्याख्या के साथ अभिनेता की केन्द्र में उपस्थिति। परन्तु नवाचार के नाम पर डिज़ाइन और रंगों की अत्यधिक बहुलता इसे कमज़ोर करती है। वहीं वीडियो और लाइव रिकार्डिंग भी इसे मानों सिनेमा के साथ होड़ लगाती प्रतीत होती है। कई प्रस्तुतियों में अश्लीलता का भोंडा प्रदर्शन, शयन कक्ष दृश्यों के नाम पर फूहड़ सेक्स प्रदर्शन भी दिखाई देता है और इसे इंटीमेसी के नाम पर स्वीकार कर लिया जाता है। नवाचार के संदर्भ में यह भी स्पष्ट है कि निर्देशक, अभिनेता, आज पढ़ते ही नहीं।

नया तो छोड़िए, नाट्शास्त्र, ब्रेख़्त, ग्रोटोव्स्की, प्रेमचंद, टैगोर, निराला, भारतीय इतिहास कुछ भी नहीं पढ़ते। रोज़ अख़बार भी नहीं पढ़ते। टीवी पर अच्छे कार्यक्रम भी नहीं देखते। कहानी, उपन्यास, कविता भी नहीं। रंगकर्मियों

चकाचौंध से दूर शौक़िया रंगकर्म अधिक सार्थक और समकालीन है। रंगमंच की सरलता और सहजता को यहाँ अधिक घनीभूत रूप में देखा जा सकता है। आर्थिक अभाव में वे अधिक कल्पनाशील ढंग से नाट्य रूपों को प्रस्तुत कर रहे हैं और नवीन प्रयोग से भी वे नहीं घबराते। आलेखों की उपलब्धता वहाँ कम है, इस ओर भी ध्यान दिया जाना चाहिए।

का एक समूह ऐसा भी दिखता है कि जिसकी रुचि रंगमंच में नहीं, वरन अलग-अलग समूहों के साथ विभिन्न शहरों का पर्यटन करने पर अधिक है। वे वहाँ ख़रीददारी करने, फोटो लेने और उसे फ़ेसबुक और इंस्टाग्राम पर पोस्ट करके ही स्वयं को स्वनामाधन्य रंगकर्मी मान लेते हैं और रंगमंच को प्रदूषित करते रहते हैं। रंगमंच के पर्यावरण को शुद्ध करना भी नवाचार होना चाहिए।

कुछ युवा ऐसे भी हैं, जो पूरी गम्भीरता से इसे ले रहे हैं और प्रशिक्षण को महत्वपूर्ण मान रहे हैं। वे विभिन्न प्रशिक्षण संस्थानों और पाठ्यक्रमों में भी प्रवेश ले रहे हैं। भविष्य में रंगमंच को ही कैरियर बनाना चाहते हैं। सरकारों द्वारा प्रदत्त स्कॉलरशिप, अनुदान योजनाओं में भारी बढ़ोत्तरी हुई है, इससे आर्थिक संघर्ष कम हुआ है, लेकिन एक उदासीनता भी बढ़ी है। अनुदान के कारण टिकिट आधारित प्रवेश भी प्रभावित हुआ है और कई बार दर्शक के नाम पर भीड़ जुटाने की कोशिश भी दिखाई देती है।

परम्परा का निर्वाह आवश्यक है, उसे समकालीन अर्थों में प्रदर्शित करना ही अपने आप में नवाचार है। मात्र पैकिंग बदल देने से नवाचार नहीं आता, बात को कहने और करने का अन्दाज़ ही नवाचार होगा।

आज की युवा पीढ़ी को वेब सीरीज़ तथा सिनेमा में ख़ूब काम मिल रहा है, जो उन्हें एक अन्य कला माध्यम को समझने और करने का अवसर भी दे रही है। यह उन्हें समझना होगा और इसका बहाना बनाकर नाटकों के पूर्वाभ्यास से ग़ायब होने की प्रवृत्ति से भी बचना होगा।

-dostaalok@gmail.com

चण्डालिका: लेखक- रबीन्द्रनाथ टैगोर, निर्देशन- उषा गांगुली

अनुभव के आलोक में कला

शाम्भवी शुक्ला मिश्रा

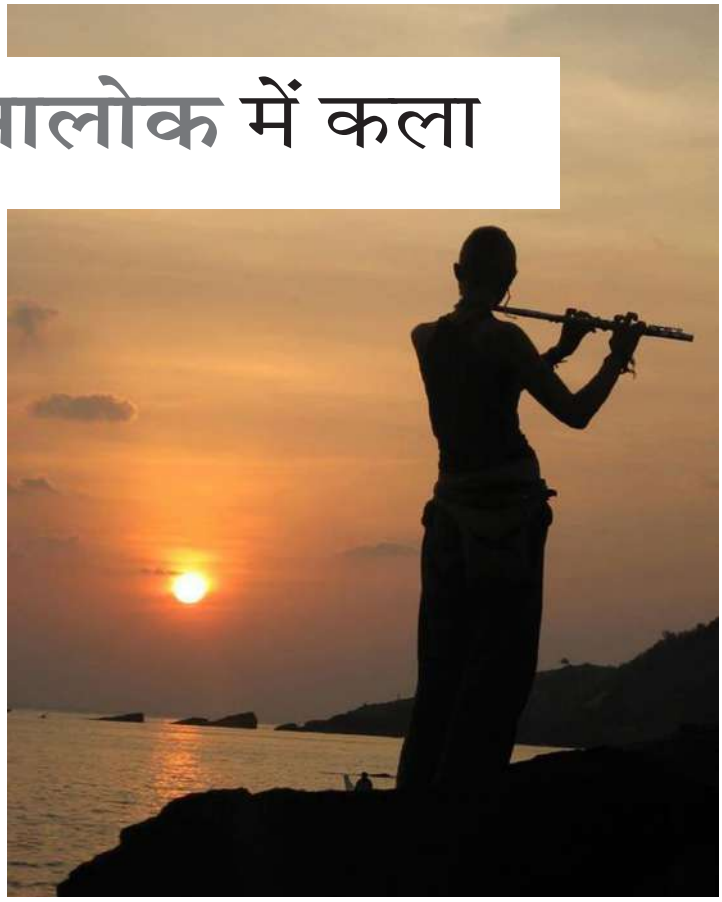

संगीत कला भी है, शास्त्र भी और विद्या भी। शास्त्र न केवल प्रयोग और लक्षण के बीच साझा भूमिका निभाता है, बल्कि चिन्तन के नए धरातल की भी रचना करता है। कौशल और विद्या को जोड़ने में भी शास्त्र सहायक होता है।

भारतीय कलाओं और सांस्कृतिक इतिहास के समस्त ग्रंथ व शोध इस ओर संकेत करते हैं कि प्राचीन काल से ही गायन, वादन, नृत्य, अभिनय, चित्रकला, मूर्तिकला व अन्य मिश्रित कलाएँ आदान-प्रदान के सरल व जटिल तानों-बानों से गुँथी रही हैं। विष्णु धर्मोत्तर पुराण में भी इन कलाओं का वर्णन मिलता है। महर्षि पाणिनि की अष्टाध्यायी में शिलालिन व कृशाश्व ऋषि द्वारा रचे गए नटसूत्र का वर्णन मिलता है। प्राचीन समय में ही हमारे व्याकरणाचार्य कवि, चिकित्सक, आयुर्वेदाचार्य-योगाचार्य और नाट्यशास्त्री भी हुए हैं। इस कथन के समर्थन में महर्षि पाणिनी, महर्षि पतंजलि, आचार्य भरत व इस कोटि के अनेक विद्वानों, आचार्यों, महर्षियों के ग्रन्थों के उदाहरण हमारी संस्कृति में भरे पड़े हैं। ऐसा होना उस संस्कृति में स्वाभाविक है जिसके महानतम ग्रन्थ और शास्त्र दो से तीन हज़ार वर्ष प्राचीन हैं तथा जिनका प्रचार-प्रसार अत्यन्त व्यापक रहा है।

भारतीय कलाओं का आधार हमारे दर्शन, ग्रंथ यथा न्याय वैशेषिक, वेद मीमांसा, सांख्य योग, उपनिषद् और वेद रहे हैं। ऐसा ही एक अत्यन्त महत्वपूर्ण वेद हैं 'पंचमवेद', जिसे हम नाट्यशास्त्र के नाम से जानते हैं। प्राचीन काल में इसे नाट्यवेद कहते थे फिर गान्धर्व वेद कहा गया। दर्शन और संगीत-नृत्य का सीधा सम्बन्ध प्राचीन ग्रंथों और शास्त्रों द्वारा इंगित होता है जो कि आज भी उतना ही प्रासंगिक है।

मध्यकाल तेरहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध संगीत शास्त्री, आयुर्वेदाचार्य थे, पंडित शारंगदेव ने अपने ग्रंथ 'संगीत रत्नाकर' में प्रथम अध्याय में ही लिखा है- ''गीतं वाद्यं तथा नृत्यम् संगीतमुच्यते।'' इसमें गीत, वाद्य और नृत्य तीनों के समुच्चय को संगीत कहा गया है। भारतीय संगीत की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है जिसकी निर्मल धारा प्राचीन काल से अर्वाचीन समय तक निरन्तर स्वच्छंद रूप से प्रवाहित होती आ रही है। भारतीय संस्कृति के मूल्यबोध, दार्शनिक तत्व, वेदों और पुराणों का ज्ञान तत्व भारतीय संगीत के आधार स्तंभ हैं। भारतीय संस्कृति में दर्शन सिद्धान्तों की ज्ञान-आभा हमारे भारतीय संगीत परम्परा में परिलक्षित होती है। कला और दर्शन के सम्बन्ध में वाचस्पति गैरोला ने कला के विराट स्वरूप की अद्भुत विवेचना प्रस्तुत की है- ''वेदान्त दर्शन में ब्रह्म को आनन्दमय और उसकी अभिव्यक्ति को भी आनन्दमय कहा गया है। उसकी यह आनन्दमय सत्ता सोलह कलाओं द्वारा उद्भासित है। अग्नि के अनन्त कलारूप के वर्णन में बताया गया है कि

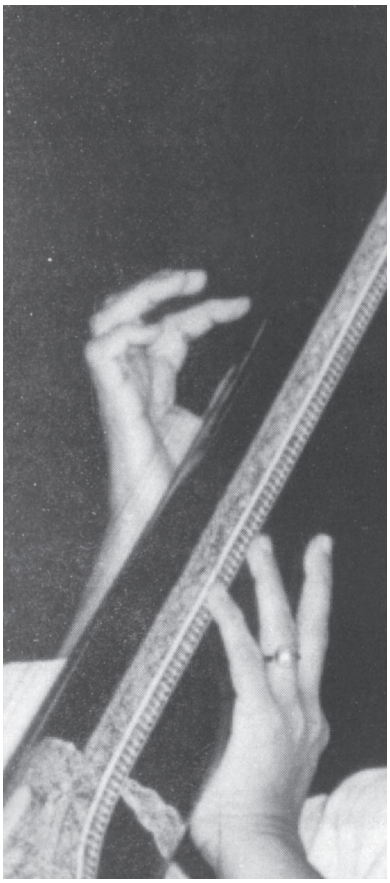

यह पृथ्वी कला है; यह अन्तरिक्ष कला है; यह द्यु-लोक कला है; यह समुद्र कला है; यह अग्नि कला है; यह सूर्य कला है; और यह विद्युत कला है। इसी उपनिषद्ग्रंथ में कलामय पुरुष परमेश्वर के सम्बन्ध में विस्तार से वर्णन किया है और बताया गया है कि उस आयतनवान् कला-रूप ब्रह्म का प्राण कला है; चक्षु कला है; श्रोत कला है; और मन भी कला है।

इस दृष्टि से यह सम्पूर्ण चराचर और इस चराचर का निर्माता अनन्त सत्तावान् ब्रह्म, दोनों कला-स्वरूप हैं। कला के चिन्तन का इतना व्यापक दृष्टिकोण समग्र भारतीय साहित्य में परिलक्षित है; इसीलिए भारतीय दृष्टि से कला की चरमांत सिद्धि का मार्ग बहिर्मुखी न होकर अन्तर्मुखी है।

दर्शन का प्रारम्भ- 'मनुष्य ने जिस दिन ऊपर या बाहर से दिखने वाले जगत की गहराई में जाकर उसकी व्याख्या करने का प्रयत्न किया, उसी दिन से दर्शन प्रारम्भ होता है। चूँकि भारतीय विचारधाराओं को जानने के लिये सबसे प्राचीन प्राप्त साहित्य वेद हैं इसलिये भारतीय-दर्शनों का प्रारम्भ वेदों से माना जाता है। हालाँकि वेदों और पुराणों में बहुत-सी ऐसी परम्पराओं का उल्लेख आया है जो भारत के निवासियों में आर्यों के आने के पहले प्रचलित थीं। इन श्रमण-परम्परा के बीच उपनिषदों तथा अथर्ववेद और ऋग्वेद में मिलते हैं।

दर्शन शब्द का अर्थ- भारतीय विचारधाराओं में दर्शन शब्द का प्रयोग कई अर्थों में किया गया है। व्याकरण के अनुसार यह शब्द 'दृश' धातु से बना है। 'दृश' का अर्थ होता है देखना। इसी धातु से 'ऋषि' शब्द भी बनता है जिसका अर्थ है 'देखने वाला'। देखता तो प्रत्येक प्राणी है किन्तु उसे ऋषि नहीं कहा जा सकता। ऋषि वह है जिसने जीवन अथवा विश्व के रहस्य को देखा। अतः दर्शन याने ''रहस्य का साक्षात्कार''।

दर्शन का क्षेत्र- दर्शन का सम्बन्ध जीवन तथा अनुभव दोनों के साथ है। जीवन का रहस्य आचार-शास्त्र के अन्तर्गत है और अनुभव का रहस्य तत्वज्ञान के अन्तर्गत। तत्वज्ञान का अर्थ है 'वास्तविकता का ज्ञान'। वास्तविकता की खोज के लिये हम उसका अनुभव दूसरों के अनुभव से मिलाते हैं। इस तरह की चर्चाओं को ज्ञान मीमांसा कह सकते हैं। इस प्रकार अनुभव के तीन भेद हो जाते हैं- प्रमाण मीमांसा, प्रमेय मीमांसा, ज्ञान मीमांसा। यदि इसके साथ नीतिशास्त्र भी मिला दिया जाय तो दर्शनशास्त्र के चार विभाग हो जाते हैं।

भारतीय दर्शन- भारतीय दर्शनों का विभाजन साधारण तौर पर वैदिक तथा अवैदिक दर्शनों के रूप में किया जाता है। न्याय, वैशेषिक, सांख्य योग, मीमांसा और वेदान्त ये वैदिक दर्शन हैं। जैन, बौद्ध और चार्वाक अवैदिक दर्शन है।

धर्म या आचार के क्षेत्र में वेद को अंतिम प्रमाण के रुप में भी स्वीकार किया है। मीमांसा तथा वेदान्त दर्शन अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन वैदिक साहित्य के आधार पर ही करते हैं। भारतीय संगीत-नृत्य के सिद्धान्तों के प्रतिपादन में विभिन्न दर्शनों के चिन्तन का प्रभाव रहा है। अतः संगीत के सिद्धान्तों को भली प्रकार और समग्र रूप में समझने के लिये दर्शन के उन मूलभूत सिद्धान्तों को जानना भी आवश्यक है जिनसे संगीत के सिद्धान्तों को पुष्टि प्राप्त होती है। इससे संगीत शास्त्र के ज्ञान के साथ-साथ शास्त्र-प्रतिपादन की भारतीय वैज्ञानिक या तार्किक शैली से भी परिचय होता है।

भारतीय संगीत शास्त्र का विश्व संगीत में उच्च स्थान है क्योंकि वैज्ञानिक तार्किक पद्धति, सूक्ष्म चिन्तन तथा प्राचीनता इन सभी दृष्टियों से हमारा संगीत शास्त्र परिपूर्ण है। भारतीय शास्त्रीय संगीत की आधार भित्ती ही दर्शन है। हमारे शास्त्रकार विभिन्न दर्शनों के विभिन्न सिद्धान्तों का अनुगमन करते हुए अपनी विषयवस्तु को एक ठोस स्वरूप प्रदान करते हैं और इस प्रक्रिया में सभी शास्त्र दर्शन से जुड़ जाते हैं। 'मानव की मूलभूत सामान्य प्रवृत्तियों को प्रथमतः चार रूपों में देखा गया है और उन्हें ऋक् यजुस, साम और अथर्व (वेद, चतुष्टय) संज्ञाएँ प्रदान की हैं। ये प्रमुख चार प्रवृत्तियाँ क्रमशः सामान्य क्रिया-व्यापार रूप ही हैं।

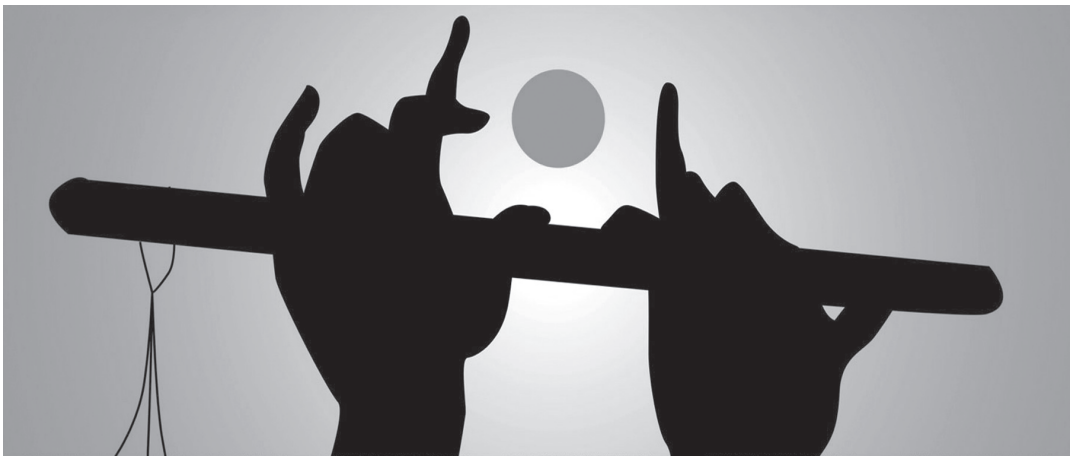

संगीत नृत्य के जिन शास्त्रीय ग्रंथों में प्राचीन परम्परा जीवित है वे सभी दर्शन से प्रभावित हैं, विशेष रूप से नृत्य एवं संगीत के तत्व निरूपण में। यथा- वाद, श्रुति, स्वर, ताल आदि। विषय प्रतिपादन शैली भी दर्शन से प्रभावित है। यथा- पदार्थ संग्रह, प्रतिज्ञा आदि ध्वनि को परायोनि यानी मूलकारण बताना, श्रुतियों की बाईस संख्या के कारण का निरूपण, श्रुतियों के नाम, श्रुति-जातियों की सार्थकता, स्वरों के वर्ण, ऋषि, छन्द, देवता, देवादिकुल इत्यादि स्थलों को देखने पर यह भावना दृढ़ होती है कि भारतीय संगीत शास्त्र दर्शनों से पूर्णतया प्रभावित है।

शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और कला, छन्द आदि छह अंङ्ग उसको (वेद को) सुरक्षित रखने और समझने में सहायक होते थे किन्तु बाद में व्याकरणादि छहों अङ्गों का स्वतंत्र अध्ययन, चिन्तन और निरूपण हुआ है। इसी प्रकार संगीत में कालान्तर में गीत, वाद्य और नृत्य के स्वतंत्र ग्रंथों का सर्जन होने लगा जिनमें सम्बन्धित विषय के प्रत्येक अङ्ग का सम्पूर्णता और विस्तार से निरूपण किया जाने लगा। संगीत के प्राचीन शास्त्रीय ग्रंथ दर्शन से जुड़े थे।

संगीत शास्त्र में मुख्य रूप से वेदान्त, मीमांसा, योग, तन्त्र, सांख्य, न्याय और व्याकरण आदि का विशेष प्रभाव दृष्टिगत होता है। दर्शन के दृष्टादृष्टफल, कारण, चित्तवृत्ति, विवर्त और परिणाम, जाग्रत स्वप्नादि अवस्थाएँ, निर्विकल्प-सविकल्पक ज्ञान, त्रिविध सत्ताएँ, वाक् प्राणादि वैदिक त्रिक, त्रिगुण, आकाशादि पंचमहाभूत, शब्दादि पंच तन्मात्राएँ, नाद, बिन्दु, स्फोट, प्रतिभा, प्रज्ञा, प्रमाण व्याप्ति, अव्याप्ति, माया का आवरण विक्षेप शक्तियाँ, आद्या प्रकृति, नवद्वार चैतन्य, जड़ आदि पारिभाषिक शब्दों का निरन्तर प्रयोग नृत्यशास्त्र व संगीत शास्त्र में हुआ है। योग की भाँति संगीत भी एक 'उपास्य' विद्या है वेदान्त की मूलभूत विचारधारा में 'ब्रह्म' एक व्यापक चेतन सत्ता के रूप में स्वीकार किया गया है। संगीत की एक मात्र उपादानभूत व्यापक नाद सम्पत्ति को 'नाद ब्रह्म' की संज्ञा दी गई है। शिल्प, साहित्य, दृश्य, श्रव्य, अन्यान्य कलाओं में कोई भी कला हो सभी क्षेत्रों में व्यापक तत्व को 'ब्रह्म' शब्द से विभूषित किया गया है। सांसारिक पदार्थ जड़ होते हुए भी उनकी व्यावहारिक सत्ता को स्वीकार किया गया है। उनसे व्यवहार और लोकरंजन भी छोटा है। अतः संगीत को साध्य और साधन दोनों रूपों में अंगीकृत किया गया है। ग्यारहवीं शती के आचार्य नारदकृत संगीत मकरन्द, चौदहवीं शती के प्रसिद्ध संगीताचार्य आचार्य शारंगदेव कृत संगीत रत्नाकर, पद्रहवीं शती के कई ग्रंथों के रचयिता महाराणा कुम्भा कृत 'संगीत-राज' आदि कतिपय ग्रंथों में नाद को ही ब्रह्म शब्द से सम्बोधित किया गया है।

वेद व पुराणों के लिखित साक्ष्य के अनुसार शिव ही सृष्टि के प्रारम्भ में एक संकल्प के रूप में थे। शिव का यही संकल्प रूप ओंकार तत्व याने 'ऊँ' ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। नृत्य व संगीत के प्रारम्भ में यही ओम आराधना की जाती है- ''ईश्वर स्वरूप नाद ब्रह्म, स्वर ताल लय सरगम/ध्याये नित ब्रजराज नाद ब्रह्म, ब्रह्म नाद''।

अध्यात्म, धर्म, दर्शन आदि सभी क्षेत्रों में हमारी भारतीय संस्कृति का स्वरूप रागात्मक सौन्दर्य से अभिमंडित रहा है। नृत्य इस संस्कृति का प्रमुख अंग रहा है। प्राचीन ग्रंथ ऋग्वेद में 'शिव' को रुद्र कहा है। भारतीय अध्यात्म और दर्शन के केन्द्र में भी शिव और उनकी शक्ति है। भारतीय चिन्तनधारा के अनुसार किसी न किसी रूप में उमा-महेश्वर अथवा शिव शक्ति से भी सभी भारतीय कलाओं का आविर्भाव माना जाता है और नृत्य प्रयोग की उत्पत्ति तण्डु मुनि से। नाट्य शास्त्र यही कहता है- ''सृष्टवा भगवता दत्तास्तण्डवे मुनये तदा।''

- shambhauvi@gmail.com

सुर की कमर ना टूटे...
बहुत नाज़ुक होती है

राजेश गनोदवाले

सुनने में एक बारगी नकारात्मक ध्वनि पैदा करता शब्द है- आघात। लेकिन 'आघात' तो आघात ही है। इस ज़रूरी शब्द की याद अकस्मात नहीं आई। पिछले कुछ वर्षों से, जबसे शास्त्रीय संगीत के किसी तन्त्री वादक कलाकार को सुनने का अवसर आया तब-तब एकाधिक कारणों से आघात याद आने लगा। वादन में आघात के कारण बनने वाले प्रश्न भी तेज़ होने लगे। आघात को लेकर उभरने वाले जो प्रतिरूप भीतर बेचैन हैं- वे सवाल-जवाब करने लगते थे। परिणामस्वरूप तन्त्रवादन में हावी होती प्रयोगधर्मिता को लेकर कहने की दबी इच्छाएँ बाहर आने छटपटाती थीं। नकारात्मकता से परे सुगढ़ सन्दर्भ में याद आता आघात और उसे लेकर कहा जा रहा यह कथ्य तकनीकी होते हुए भी संगीत में चिन्तन के नए वैचारिक आयाम खोलता है। कहना मुश्किल है कि इससे प्रयोग धर्मी कलाकार किस हद तक सहमत होते हैं।

सितार, सरोद और अन्य वे वाद्य जहाँ स्वरों को बरतने का ढंग आघात के बाद विस्तार लेता है वहाँ-वहाँ ध्वनियाँ जब अपनी आत्मा से नीचे उतरे तो बेचैनी स्वाभाविक है! लेकिन आघात अन्ततः आघात हो, शास्त्रीय संगीत को आघात देने वाला आघात न बन जाए।

सितार नहीं, जिटार

●●●

पिछले दो दशक से भारतीय शास्त्रीय संगीत को मैंने श्रवण के अलावा भी आत्मसात किया है। लेकिन इस शब्द की कितनी तहें हो सकती हैं? अब जाकर समझ आया। कुछ साल पहले जाने-माने सितार वादक नीलाद्रिकुमार की एक यादगार महफ़िल भातखण्डे ललित कला शिक्षा समिति के संयोजन में डॉ. अरुण कुमार सेन स्मृति समारोह में सुनने के बाद आघात के प्रति समझ का सिरा फैलता चला गया। संयोग ही है कि आज से क़रीब 25 वर्ष पूर्व युवा नीलाद्रिकुमार डॉ. सेन के निमंत्रण पर रायपुर आए थे। प्रसंग था उदीयमान कलाकारों का समिति द्वारा सम्मान किया जाना। समय देखें कि वही नीलाद्रिकुमार उनकी स्मृति में बजा रहे थे। अबकि उनके हाथों के सितार नहीं, जिटार था। शैली वही, वरन कुछ उत्तेजना से भरी हुई, और अंततः सितार मानस के साथ ही वादन। लेकिन जिटार है अतः कुछ नवाचार तो नीलाद्रिकुमार को करना था सो पण्डित रविशंकर जी के पहली पीढ़ी के गुणी शिष्यों में से एक पण्डित कार्तिक कुमार के पुत्र नीलाद्रिकुमार को आघात के लिए नवराह दिखाई दी जिटार के ज़रिए। यानी आघात स्वयं पर आघात होते हुए देखता हुआ!

नीलाद्रिकुमार

शास्त्रीय संगीत में सितार अथवा अन्य ऐसे तन्त्रवाद्य जिनके वादन कौशल में आघात मूलाधार है वहाँ इसका स्मरण होना स्वाभाविक है। यदि कलाकार नीलाद्रिकुमार की मनोदशा वाले हुए तब तो और भी। ग़ौर कीजिए कि स्ट्रोक में आघात आनन्द की संरचना करता है और बनने वाली स्वाभाविक संरचनाओं को नष्ट भी करता है! तारों को छूने या छेड़ने अथवा बजाते समय हथेली के वज़न का पैमाना कितना होगा? इसका महत्व आघात के उपरान्त सुनाई देने वाली ध्वनियाँ बता देती हैं। नीलाद्रिकुमार जैसे नामी कलाकारों को सुनने पर स्ट्रोक अथवा आघात के बहुअर्थ बनते हैं जो नई बहस को जन्म दे सकते हैं। इसके ठीक उलट उस्ताद अमज़द अली-सरोद या उस्ताद शाहिद परवेज़-सितार को सुनने पर आघात कितना महीन और मुलायम या कलात्मक हो सकता है, होता है- समझ में आता है।

'आघात' के आयाम

भारतीय शास्त्रीय संगीत कल्पना मूलक विधा है। कलाकार की अपनी तालीम, स्वरों के निकास का ढंग या गायिकी से उसके प्रयोग के प्रति रुझान का आसानी से पता लगता है। तैयारी उसके मन मिज़ाज को अभिव्यक्त करती है। जितनी तैयारी, उतनी ही आघात के प्रति एक अर्थों में निर्ममता का प्रवेश! वादक के भीतर अपने वाद्य और आघात के साथ उसका रिश्ता कितना नाज़ुक हो सकता है, सुनते समय इस सूक्ष्मता को पकड़ा जा सकता है। आप इस बात को भी ताड़ सकते हैं कि द्रुत का काम करते समय अथवा अपनी असाधारण तैयारी दिखाते समय आघात के प्रति कलाकार कितनी सम्वेदनशीलता बरतते होंगे।

●●●

नई सदी का दूसरा दशक साउंड प्रॉडक्शन को अहमियत देने वाला दिखाई देता है। अर्थात मनचाही ध्वनि का समाधान प्राप्त करना! ऐसे समय बड़े साधकों के अपने वाद्य निर्माण करने वाले हैं। यानी वादक क्या चाहता है इसको बनाने वाले ध्यान में रखकर उन्हें सन्तुष्ट करते हैं। साउंड इंजीनियर रखकर चलना भी नए दौर का स्टार सिस्टम है! रिफाइंड साउंड के प्रति बढ़ता जाता आग्रह कब स्वाभाविकता को पीछे छोड़ कृत्रिमता की ओर मुड़ रहा है वह महीन सीमा रेखा ख़त्म हो जाती है! ऐसे में टोनल क्वालिटी वह नहीं होती जो आपके वाद्य से निकलती है। बतौर कलाकार आपका मन सुनना कैसा चाहता है- इस पर नतीजा दिया जाता है। कम्प्यूटर के ज़रिए टोनल क्वालिटी बदलने का विकल्प भी इस दौर में साउंड इंजीनियर के साथ होने से खुला हुआ है। है न अजीब बात!

नीलाद्रिकुमार जैसे श्रेष्ठ कलाकार का आघात सितार को नव-रुप तो देता है, लेकिन क्या वह सितार के मानकों के अनुरूप है? ऐसा प्रश्न भी उनके सामने रखा जाना चाहिए। नीलाद्रिकुमार को लेकर आघात के प्रति उनकी दृष्टि जिटार (उनका तैयार सितार) प्रयोग बजाने के दौरान ख़ासकर सामने आती है।

सुरीला था उनका बोलना -बजाना

●●●

आघात के सन्दर्भ में सोचते हुए क़रीब 27 साल पहले भोपाल में 'वीणा समारोह' में उस्ताद असद अली ख़ाँ को सुना हुआ वह दिन याद आ गया। उस्ताद असद अली ख़ाँ रुद्रवीणा वादक थे। आप कह सकते हैं कि वीणा जैसे वाद्य की उन्होंने प्रतिष्ठा की। कोई उस्ताद क्या अपने वादन से ही उस्ताद कहलाता है? आमतौर पर होता तो ऐसा ही है। सुनकार समूह उन्हें उनकी मंचीय छवि में बाँध कर देखने का आदी है। लेकिन इसके परे भी उनके पास ऐसा कुछ न कुछ हो सकता है जिनके सहारे हम उन्हें मूर्धन्य अथवा आचार्य की श्रेणी में रखते हैं। उस्ताद असद अली ख़ाँ मंच के इतर भी अपने ज्ञान से मूर्धन्य साधक थे। इसका एक सार्वजनिक प्रमाण भारत भवन में सम्पन्न वीणा समारोह में देखने आया। एक तो उनका वाद्य को लेकर ज्ञान और दूसरे कथन की शैली। वाक्यों के हर दूसरे फ्रेज़ पर उन्हें वाहवाही मिल रही थी।

असद अली ख़ाँ

वीणा वाद्य के चार प्रकारों पर एकाग्र उस समारोह में वीणा के अंतरंग-बहिरंग को खोलने वाले एकाधिक सत्र थे। आमंत्रित कलाकारों और विद्वानों के साथ पर्यवेक्षक-समीक्षकों ने वीणा को कैसे बचाया जा सकता है, इस पर मंथन किया था। मैं स्वयं उसमें बतौर ऑब्ज़र्वर आमंत्रित था। भारत की किसी अकादमी द्वारा सुचिंतित ढंग से किया हुआ वह पहला और अन्तिम प्रयास था। इसके पीछे पण्डित ओमप्रकाश चौरसिया (अब स्वर्गीय) थे। पण्डित चौरसिया उन दिनों उस्ताद अलाउद्दीन ख़ाँ संगीत और कला अकादमी के निदेशक हुआ करते थे। उनके लगभग सभी समारोहों में उन्होंने लिखने का अवसर दिया। अपने कार्यकाल में, मितभाषी चौरसिया जी ने अकादमी को अधिक सार्थक, जवाबदेह और जीवन्त बनाने के एकाधिक उदाहरण रखे। अधिकारी और कलाकार, पण्डित चौरसिया में इन दोनों ख़ूबियों का समावेश था। अकादमी के कार्यकाल में नेत्रविकार से जूझते हुए भी वे निरन्तर आयोजनों के प्रति निष्ठापूर्वक लगते थे। एकाधिक सांगीतिक प्रकाशन भी उनके गतिशील कार्यकाल की देन हैं। लेकिन सबसे बड़ी पहल थी वीणा महोत्सव। इस पर विस्तार से मैंने लौटकर लिखा ही था इसीलिए उसमें क्या हुआ उसे दोहराने की ज़रूरत नहीं। लेकिन आघात को लेकर उस समारोह में सुनने मिला अनुभव निराला था। वह उदाहरण आज तक याद है। किसी और कलाकार ने कभी उस दर्जे का सम्बोधन नहीं दिया। आज भी सितार सुनते हुए आघात का अतिरेक होने पर वह उदाहरण और उनके कहन की प्रासंगिकता उभर जाती है। कोई उस्ताद कितना महीन सोच सकता है इसका प्रमाण थे असद अली ख़ाँ। वीणा समारोह में दिन के सत्र विचारों पर एकाग्र होते थे। अर्थात वादन या घराने अथवा निर्माण सम्बन्धी बातों को लेकर आए हुए मेहमान क्या सोचते हैं इससे परिचित होने का मौक़ा मिलता था। ऐसी ही एक दोपहरी उस्ताद असद अली ख़ाँ मंच पर बग़ैर वाद्य के आए। वादक मंच पर हो और साथ में उनका वाद्य न हो- असंगत उपस्थिति ही कहलाएगी। लेकिन यह चौरसिया जी का ही कमाल था कि उन्होंने सत्र संयोजन इस तरह किये थे कि गाने, बजाने वाली हस्तियाँ सम्बोधित करती थीं और बातचीत की जगह भी बनाते जाती थीं। उसी के तहत असद अली ख़ाँ को सुनने पर लगा कि मानो वे बजा ही रहे हैं। उनका सम्बोधन शास्त्रीय प्रस्तुति की तरह सुरीला और 'वाह' कहने प्रेरित करता था। तो, आघात को लेकर कहते हुए दिग्गज रुद्रवीणा वादक ने बड़ी ख़ूबसूरती से कहा था, स्ट्रोक्स ऐसे हों कि सुर की कमर ना टूटे। सुर की कमर बड़ी नाज़ुक होती है।

बाद में उस्ताद विलायत ख़ाँ, पं. बिरजू महाराज, पं. सुरेश तलवलकर, उस्ताद शफ़क़त (पाकिस्तान के श्याम चौरासी घराने की गवैया जोड़ी उस्ताद सलामत अली-नज़ाकत अली में से सलामत अली के पुत्र) आदि को सुनकर लगा कि अच्छे कलाकारों के भीतर ठहरी हुई ऐसी विशेषताओं को बाहर लाने के लिए भी सुनियोजित ढंग से एकाध परिकल्पना की ज़रूरत पर अकादमियाँ या सम्बद्ध संस्थाएँ क्यों विचार कर नहीं पातीं। संगीत सीखने की विद्या होते हुए भी सुनने की भी उतनी ही है। सुनने की कला समझाई या सिखाई नहीं जा सकती। यह बोध स्वयं सिद्ध होता है। सम्बोधन भी तो किसी वैचारिक समारोह का केन्द्रीय तत्व बन सकता है। किसी आयोजन का शीर्षक ही सम्बोधन बनाया जाए तो क्या कहने।

सितार में बिजली की कौंध

●●●

एक मर्तबा पं. बुधादित्य मुखर्जी के साक्षात्कार में उन्होंने बड़ी सुन्दर बात संगीत चिंतक और वादक सुनीरा कासलीवाल से सवाल-जवाब के दौरान बताई थी कि सितार में 'स्ट्रोक' के बाद जो भूमिका बाएँ हाथ की होती है, संगीत दरअसल वहीं से शुरू होता है। सितार के विद्यार्थियों को इस कथन में छिपे एस्थेटिक्स का अन्दाज़ा तो हो जाएगा, चैतन्य सांगीतिक बिरादरी भी इसे आसानी से समझ सकती है।

पं. बुधादित्य मुखर्जी

इधर, सितार जैसे वाद्यों में जितनी तन्त्रगत ख़ूबियों का विस्तार दिखाई देता है उसने आघात के अनेक चमत्कारी रूप सामने लाए हैं। बिजली की-सी कौंध और असाधारण गति के प्रवेश ने हतप्रभ करने वाला उदाहरण पेश किया है। सितार कितना आगे निकल गया है इसकी कल्पना करना मुश्किल है। आख़िर टप्पा गायिकी जैसा रुप सितार में सम्भव करने की जद्दोजहद को एस्थेटिकली तर्कसंगत मानने पर मतभेद स्वाभाविक है। फिर भी कलाकार की क्षमता का विस्तार-ग्राफ कितना क्रान्तिकारी होने का माद्दा रखता है, समझना काफ़ी है। बावजूद सवाल तो अपनी जगह बने ही रहेंगे कि क्या स्पीड ही श्रेष्ठता का मान्य मानदण्ड है? सम्भवतः नहीं, इसीलिये सितार में अच्छी ख़ासी बढ़त तक चले जाने और अपनी पहचान बना रहे कुछ नौजवान पीछे लौटते हुए अधिक चिन्तनशील नज़र आते हैं।

भोपाल में संगीत का ककहरा अपने पिता से सीखने वाले और इन दिनों पुणे निवासी युवा सितार वादक अनिरुद्ध जोशी सुरबहार के प्रति अपना प्रेम चरितार्थ कर चुके हैं। सुरबहार बजाने की ओर न सिर्फ़ बढ़ रहे हैं वरन उन्होंने एक लाख रुपये कीमत का सुरबहार भी ख़रीदकर लाया। समझा जा सकता है कि सुरबहार बजाना अर्थात धैर्य की स्थापना करना है। वे इन दिनों गहरे अध्यवसाय, साधना और कल्पनाशील प्रयोग में लीन है। उधर नीलाद्रिकुमार कुमार जैसे कलाकारों ने धैर्य या चैनदारी को भुला दिया है। आघात के प्रति ओझल लेकिन समझी जा सकने वाली निर्ममता उनके वादन में देखी जाती है।

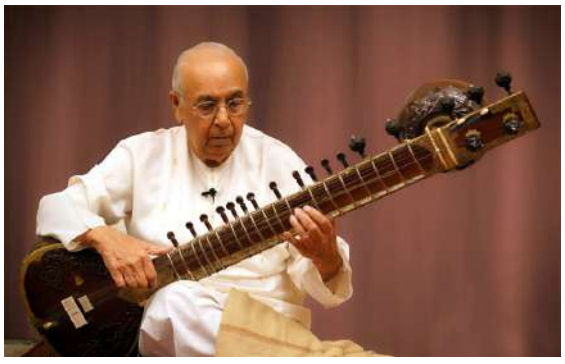

पं. अरविंद पारीख

चिंतक पं. अरविंद पारीख पण्डित दिग्गजों के साथ अपनी बैठक में संगीत पर सिलसिलेवार विचार किया करते हैं। एक एपिसोड में उन्होंने भी सितार पर इस बढ़ते हुए वैचारिक प्रभाव को लेकर ध्यानाकर्षण किया है। इसमें दो राय नहीं कि कलात्मक मामलों को किसी साँचे में माप कर देख नहीं सकते और न तो 'ऐसा क्यों नहीं' की ज़िद रखते हुए से किसी को सुना

जाना चाहिये। लेकिन व्यक्तिगत अन्दाज़ एक बात होती है और प्रयोग में अतिरेक दूसरी। आघात कितना मोहक हो सकता है इसे जानने का एक पैमाना उस्ताद शाहिद परवेज़ भी हैं। चैनदारी से निकलता निकास। हर स्वर जैसे गा रहा हो! सितार, सरोद, संतूर और अन्य वे वाद्य जहाँ स्वरों को बरतने का ढंग आघात के बाद विस्तार लेता है वहाँ-वहाँ ध्वनियाँ जब अपनी आत्मा से नीचे उतरे तो बेचैनी स्वाभाविक है!

संतूर में आघात

●●●

कुछ साल पहले रायपुर में ही भातखण्डे ललित कला शिक्षा समिति के बुलावे में डॉ. अरुण कुमार सेन स्मृति समारोह की एक शाम पं. शिवकुमार शर्मा आए थे। अगले दिन कमलादेवी संगीत महाविद्यालय के विद्यार्थियों के साथ उनकी बैठक थी। बतौर ऑब्जर्वर मुझे भी अवसर था। तंत्रकारी वाद्यों में सन्तूर के स्वर कितने स्वच्छ आते हैं, दोहराने की ज़रूरत नहीं। इसमें वाद्य की अपनी ख़ूबियाँ तो यक़ीनन हैं। तने हुए तारों पर अखरोट लकड़ी से बनीं स्टिक से आघात के कारण भी स्वर-निकास में मिठास जुड़ती है। मैंने उनके समक्ष अपनी जिज्ञासा रखी कि वे दो उँगलियों के मध्य स्टिक फँसाकर बजाते हैं जबकि कुछ वादक स्टिक को हथेलियों के सहारे बजाते हैं। निकास और आघात के स्तर पर क्या कोई अन्तर बजाने की इन दो भिन्न शैलियों के कारण दिखाई देता है? सवाल सुनकर वे चौंके और उन्होंने पूछा क्या मैं सन्तूर बजाता हूँ। इसी के साथ कहा कि सामने आइये मैं आपको देखना चाहता हूँ। जवाब देते हुए इस बात को उन्होंने स्वीकार किया कि हथेली के प्रयोग से निकलने वाला स्वर और उँगलियों में फँसी स्टिक से निकलने वाला स्वर यक़ीनन बदलता है। बात समझी जा सकती है कि दबाव से आघात की शक्ल में अन्तर आ ही जाता है। आघात अन्ततः आघात हो। शास्त्रीय संगीत को आघात देने वाला आघात न बन जाए।

-rajeshganodwale@gmail.com

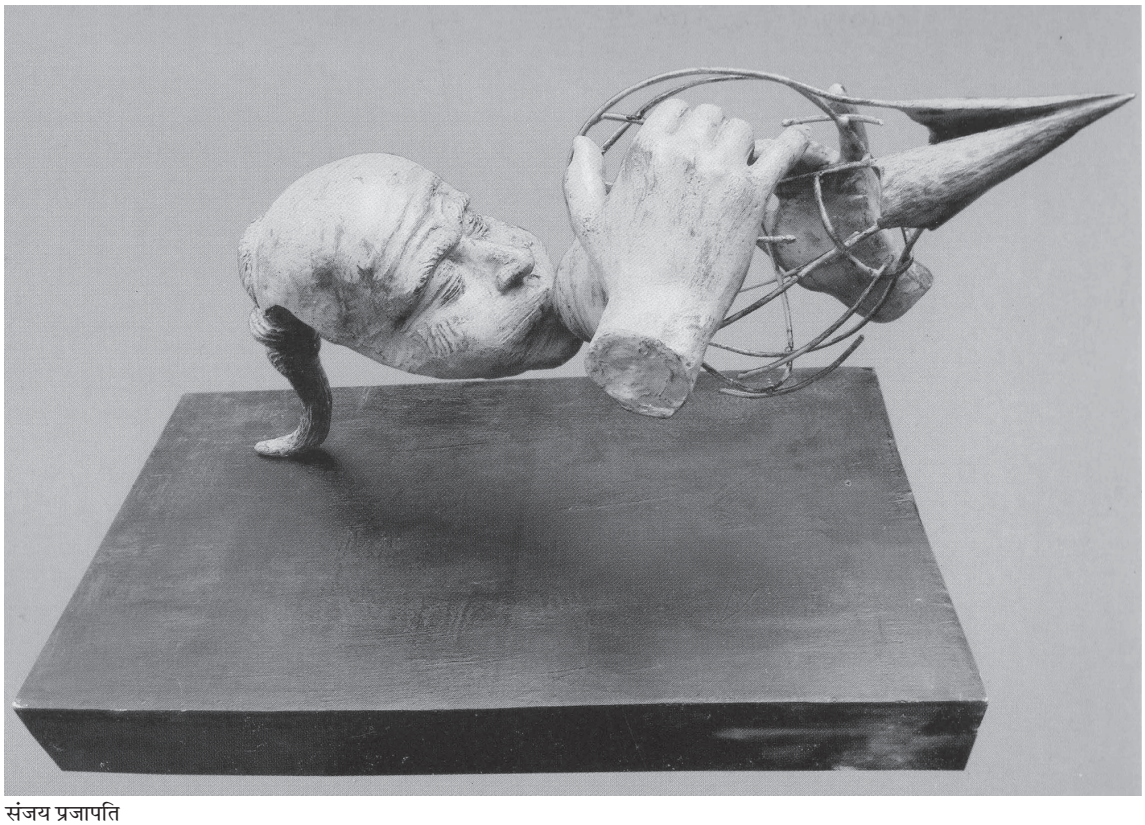

संजय प्रजापति

किसी वाद्य का स्वरूप जब बदलता है तो उसका पैहरन ही नहीं बदलता उसका नया नामकरण भी हो जाता है। नए पैरहन में सजा साज़ जिस मूल स्वरुप के एकदम नज़दीक होता है, उसे उसका हमसाज़ कहा जाता है इस पर सहमति-असहमति बनी हुई है।

स्वरांगी साने

पहले शास्त्रीय गायक अपनी प्रस्तुति के शुरूआती दो-ढाई घंटे तक केवल आलाप ही साधते थे...राग का पूरा सौन्दर्य निखरकर आने के लिए उतना समय दिया और लिया जाता था, आलापदारी के कई परम्यूटेशन-कॉम्बीनेशन (क्रमचय और संचय) होते थे। गाने-बजाने वालों को लगता है कि अब वैसे सुनने वाले नहीं रहे, श्रोताओं को लगता है कि वे प्रस्तुतकर्ता नहीं रहे। वास्तव में समय की कमी और धैर्य का अभाव दोनों ओर से देखा जाने लगा। कम समय में अधिक प्रसिद्धि पाने का गणित शास्त्रीय कलाओं में फ़्यूज़न और चमत्कारों को भी ले आया और सस्ती लोकप्रियता ने कई समझौते भी करवा दिए।

एकल प्रस्तुति की कला लगभग पूरी तरह समाप्त हो गई, सामूहिक चित्रकला प्रदर्शनी हो या समूह नर्तन, समूह वादन...सब कुछ सामूहिक होने लगा ताकि ज़्यादा से ज़्यादा लोगों को कम समय में मंच दिलाया जा सके और कोरियाग्राफ़ी की चमक से शो-बिज़ को चलाया जा सके। मोटे तौर पर ये कुछ बड़े परिवर्तन दिखाते हैं, वहीं कई महीन परिवर्तन भी हुए हैं, आप इन्हें सही-ग़लत कह सकते हैं। वह एक लम्बा विषय हो सकता है पर हम यहाँ उन परिवर्तनों तक ही ख़ुद को सीमित करते हैं और वाद्ययंत्रों को ही अपने लेख का विषय मानकर चलते हैं।

जैसा कि कहा आजकल कम में अधिक देने का ज़माना आ गया है फिर वह प्रस्तुतियों के घंटों में आई कमी हो या प्रस्तुति का अन्दाज़ हो, पहले एक-एक ताल या एक-एक राग खुलने में पौना-सवा घंटा लग जाता था आजकल पूरी प्रस्तुति उतनी देर में हो जाती है। 'स्मॉल इज़ वंडरफ़ुल' का तकाज़ा वाद्यों को भी छोटा बना रहा है। इसकी एक वज़ह तो छोटे वाद्यों का वज़न भी हल्का हो जाता है और उन्हें लाना-ले जाना अधिक सुविधाजनक और किफ़ायती हो जाता है, दूसरे नए प्रयोगों से वाद्यों का रख-रखाव लगभग ना के बराबर होता है। दक्षिण भारत में छोटी-छोटी बाँसुरियाँ जो काठ से बनी होती है उन्हें वेणु कहा जाता है, जिन्हें बड़ी आसानी से जेब तक में रखा जा सकता है। किसी वाद्य का स्वरूप जब बदलता है तो उसका पैरहन ही नहीं बदलता उसका नया नामांकरण भी हो जाता है। नए पैरहन में सजा वाद्य जिस मूल स्वरूप के एकदम नज़दीक होता है, उसे उसका हमसाज़ कहा जाता है, जबकि ऐसा नहीं हो सकता। बात फिर दक्षिण भारत की करें तो वहाँ मृदंग बजता है इसकी खोह मिट्टी की होती है मृदा यानी मिट्टी के अंग से बना और डोरी से कसता है, पखावज को उसके जैसा कह सकते हैं पर पखावज और मृदंग में अन्तर है।

मृदंग की परम्परा को पाँच हज़ार वर्षों से भी पूर्व का माना जाता है। माना जाता है कि देवाधिदेव महादेव ने इसकी रचना की थी। भगवान् गणेश से लेकर स्वामी विवेकानन्द तक इसे बजाने वाले कई नाम रेखांकित किए जा सकते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि पखावज पक्ष वाद्य का अपभ्रंश है लेकिन ऐसे तो पक्षवाद्य ढोलक भी है पर उसे तो पखावज नहीं

तारों पर तैरता संगीत

यदि हम तन्तु वाद्यों की बात करते हैं तो सबसे पहले पिनाकि वीणा का नाम आता है जो धनुष और तीर से बना था। धनुष से जब तीर छोड़ा जाता था तब एक टंकार होती थी तो किसी ने एक वाद्य बनाया जिसका नाम पिनाकि वीणा रखा। पिनाक संस्कृत में धनुष को कहते हैं। वो ही वाद्य विदेश में हार्प के नाम से जाना गया, इसके सुर कुछ-कुछ संतूर जैसे हैं। इसका मिनिएचर फ़ॉर्म है स्वर मंडल। उसके बाद एक और वाद्य बना शततंत्री वीणा। वीणा शब्द हर तंतु वाद्य के साथ आता है शततंत्री वीणा ही सन्तूर हुआ। सितार वादिका स्मिता वाजपेयी ने जानकारी दी कि सन्तूर की जान रहे भजन सोपोरी एवं उनके पुत्र अभय सोपोरी ने संतूर से मींड निकालने के लिए उसमें वॉयलिन-सितार जैसे परदे लगाए थे।

वीणा के साथ एक प्रयोग ऑल इंडिया रेडियो पर ए ग्रेड आर्टिस्ट रहे निरंजन हलधर ने भी किया है। उन्होंने 'रंजन वीणा' और 'त्रिवेणी वीणा' का आविष्कार किया है। वे कहते हैं सरस्वती वीणा या विचित्र वीणा को लेकर कहीं जाना मुश्किल होता है, 'रंजन वीणा'; विचित्र वीणा से छोटी है लेकिन समान गुण वाली है। 'त्रिवेणी वीणा': सरोद, गिटार और वीणा का संयुक्त रूप है, इसे बनाने में उन्हें सात-आठ वर्ष लग गए। इसे उन्होंने लकड़ी, धातु और चमड़े, तीनों के प्रयोग से बनाया और इसका पेटेंट भी लिया है। यात्रा में अवरोध के चलते ही डॉ. रमेश तागडे ने वॉयलिन को नया रूप देकर 'रमोलीन' ईजाद किया। वे बताते हैं उनका एक विदेशी प्रवास इसलिए स्थगित हो गया था क्योंकि वॉयलिन की गणना विदेशी वाद्य में हुई थी। इसे देशी रूप देने के लिए सितार की तरह इसमें तुम्बा जोड़ा। महाराष्ट्र के पंढरपुर-सांगली में तुम्बे बहुतायत में मिलते और एकतारे की तरह बजाए जाते हैं। वे बहुत नाज़ुक होते हैं, उन पर प्रयोग करना श्रमसाध्य था लेकिन प्रयोग सफल हुआ और सन् 1993-94 में 'रमोलीन' ने आकार लिया और सफल प्रस्तुतियाँ प्रारम्भ हुईं।

कहते। दरअसल पखावज उर्दू के दो शब्दों से बना है पाक और आवाज़। लेकिन इसकी वादी में (डोरी) में गाय या बैल के चमड़े का प्रयोग होता है और मिट्टी के खोह की जगह लकड़ी इस्तेमाल में लाई जाती है। संगीत की दुकानों पर सालाना 600 से अधिक पखावज की बिक्री होती है और साढ़े तीन सौ से अधिक पुराने पखावजों की डोरियाँ बदली जाती हैं, इनके लिए कितना गो वध होता है इसका अन्दाज़ा लगाया जा सकता है और युवा वादक सुखद मुंडे को यही सालता था। सुखद बताते हैं पुणे में ही 135 से अधिक म्यूज़िकल दुकानें हैं, जहाँ नए-पुराने 42,000 से अधिक पखावजों के लिए डोरी की बिक्री होती है। पखावज की कमियों को दूर करने और उसे किफ़ायती बनाने के लिए सुखद ने 'सुखवाज' बनाया, उनके पिता गुरु पंडित माणिक मुंडे सन् 1988 से इस कोशिश में थे कि पखावज को बेहतर किया जाए और उसमें लगने वाले चमड़े को तजा जा सके। कोविड काल जैसे नई महामारी का रूप लेकर आया तो नई सम्भावनाओं के लिए अवकाश भी लाया। सुखद ने सन् 2020 में इंजीनियर आढाव की कम्पनी में दिन-रात बैठकर एक-दो नहीं 16 खोहों पर प्रयोग किये। इंजीनियर मकरंद कुलकर्णी ने ऑटो केयर से डिज़ाइन बनाया। नन्दकिशोर दलवी का बेल्ट का कारखाना होने से चमड़े की जगह स्थायी नाइलॉन की डोरी बनाने का ज़िम्मा उन्होंने लिया। पखावज के मुँह पर लगने वाले आटे की बर्बादी रोकने के लिए वे कटिबद्ध थे। एक बार की बैठक में लगभग तीन रोटियों का आटा पखावज के मुँह पर लगता है तो देखिए एक ही वादन में कितनी बर्बादी होती है। वे बताते हैं पिताजी सालों पहले यह करना चाहते थे लेकिन तब इतनी सुविधा नहीं थी, ड्रिलिंग मशीन नहीं होती थी, लुहार के यहाँ जाकर बाता मारना पड़ता था। तब नाइलॉन की डोरी का चलन शुरू नहीं हुआ था और चमड़े की जगह वे लोहे के सरिए डालने की कोशिश करते लेकिन लोहे को मोड़ना टेढ़ी खीर था। अब

'सुखवाज' से यह सम्भव हो सका है, इसकी आवाज़ भी मधुर हुई है। लम्बे समय तक पिच और स्केल समान बना रहता है, उसमें वृद्धि भी हुई है, अब चार स्केल तक इसे बजाया जा सकता है। रखरखाव नगण्य है, नाइलॉन की डोरी को धो सकते हैं। गुट्टे भी फ़ाइबर के हैं, दोनों ओर की पुड़ियाँ भी अधिक स्थाई होती हैं। सुखद ने इसके पेटेंट के लिए भी आवेदन कर दिया है, जो स्वीकृत भी हो गया है।

इसी तरह तबला भी केवल दो तीन स्वरों जैसे काली तीन, काली चार,काली दो में ही बजता था अब उसमें भी प्रयोग हो रहे हैं, अमूमन ऊँट के चमड़े का प्रयोग किया जाता है लेकिन अब उसकी जगह प्लास्टिक का प्रयोग किया जा रहा है। पं. हरिप्रसाद चौरसिया के गंडाबद्ध शिष्य बाँसुरी वादक सन्तोष संत का मानना है कि जो अपने आप में पवित्र वाद्य हो उनमें फेरबदल नहीं होने चाहिए। जैसे बाँसुरी तो वैसे ही बाँस से बनी होती है, जिसे स्वयं श्रीकृष्ण ने बजाया है। बाँस से निकले सुर ही यथा नाम तथा गुण को दर्शाते हैं। यदि उसे किसी धातु या फ़ाइबर या पीओपी आदि से बना दिया गया तो उसे कुछ और नाम दीजिए बाँसुरी मत कहिए। अंग्रेज़ी में इसे फ़्लूट कहते हैं लेकिन फ़्लूट तो बाँसुरी नहीं हुआ न, फ़्लूट है तो वह काँच, पीतल, लोहे या सोने का भी हो तो कोई फ़र्क नहीं पड़ता पर यदि बाँसुरी है तो बाँस से ही बनी होनी चाहिए।

सितार और गिटार के संयोजन से भारतीय सितार वादक एवं संगीतकार पंडित नीलाद्रिकुमार ने 'जिटार' वाद्य बनाया है। रॉक गिटार की ध्वनियों को सितार से निकालने की चाह में यह आविष्कार हुआ और सितार के तारों की संख्या बीस से दस तक की गई तो कुमार ने उन्हें और कम करके पाँच कर दिया। उन्होंने यंत्र के भीतर एक इलेक्ट्रिक पिकअप भी जोड़ा ताकि गिटार की तरह गूँज निर्मित हो। उनका पहला पूर्ण ऐल्बम, जिसका शीर्षक 'जिटार' का उपयोग करके बनाया गया था, सन् 2008 में जारी किया गया था। वैसे कुमार ने वर्ष 2003 में प्रायोरिटी ऐल्बम के लिए पहला ट्रैक लिखा था। अगले पाँच वर्षों में उन्होंने ट्रैक में सुधार करते हुए उसमें रॉक, इलेक्ट्रॉनिक और लाउंज जैसी विभिन्न शैलियों के घटकों को भी जोड़ा। मूवी 'बंटी और बबली' के 'चुप-चुपके', 'ओंकारा' का 'नैना ठग लेंगे', 'दबंग-2' के 'तोरे नैना बड़े दगाबाज़ रे' गीत में उन्होंने सितार का प्रयोग किया तो 'गैंगस्टर' मूवी के 'ना जाने कोई' में 'जिटार' का। उन्होंने 'अ लाइफ़ इन ए मेट्रो' के 'अलविदा' गीत में 'धूम2' के 'क्रेज़ी किया रे' गीत में तथा 'माज़ी' के 'मोरा जिया' में भी 'जिटार' का प्रयोग किया।

ग्रैमी अवार्ड विजेता पं. विश्वमोहन भट्ट ने गिटार को भारतीय शास्त्रीय संगीत में लाने के लिए उसे 'मोहन वीणा' का रूप दिया। जैसे गिटार बजाया जाता है वैसे न बजाकर वे इसे गोदी में रखकर बजाते हैं। इसमें उन्होंने 19 तार संचित किए हैं। 1994 में पं. भट्ट के ग्रैमी पुरस्कार जीतने के बाद यह वाद्य 'मोहन वीणा' के नाम से प्रचलित हुआ। उनके बेटे सलिल भट्ट ने इससे प्रेरित होकर 'सात्विक वीणा' का आविष्कार किया।

सितार में प्रयोगों के लिए 'संजयख़ानी' सितार का उल्लेख भी किया जा सकता है। संजय देशपांडे ने सितार के हार्डवेयर में कई बड़े बदलाव करते हुए इसे बहुआयामी और वैश्विक दृष्टि से लोकप्रिय बनाने के साथ उसके पारम्परिक रूप को भी बनाए रखा। सितार वाद्य को ख़्याल अंग से बजाया जा सके इसलिए उसे परिष्कृत किया। पहले गायिकी का ख़्याल अंग पूरी तरह से सितार से नहीं निकलता था तो उसके सरल रूपों गत-तोड़ा को बजाया जाता था। शास्त्रीय बन्दिश जब सितार से आती तो गत और तान में आती थी। संजय ने सितार के हार्डवेयर को बदला, ख़ासकर ब्रिज को, फ्रेट और तारों को, ताकि सितार से हर तरह के संगीत को बजाया जा सके। सितार का जो ब्रिज बनाया जाता है वह हिरण के सींग से या रोज़वुड से बनता है जो बहुत सपाट होता है। संजय ने इसे उत्तल (बाहर की ओर मुड़ता हुआ) बनाया। अब किसी भी तार या फ्रेट (तरब के तार) को बजाया जा सकता है जो परम्परागत सितार में सम्भव नहीं था। इससे मींड निकालना भी बहुत आसान हो गया। सबसे महत्वपूर्ण बात यह रही कि ब्रिज को लगातार समतल बनाए रखने (ज़वरी करने) की ज़रूरत न होने से ब्रिज की उम्र भी बढ़ गई। पहले के सितार के फ्रेट, बीन के समान थे। कुछ कलाकारों ने उसमें से 'कोमल रे' और

'कोमल ध' के तारों को निकाल दिया क्योंकि उनका इस्तेमाल हिन्दुस्तानी संगीत में नगण्य होता है। 'रे' से 'ध' में या 'शुद्ध' से 'कोमल' में स्वरों को निकालने के लिए सितार वादकों को स्वयं प्रयास करना पड़ता था लेकिन कोई और अन्य किसी विधा को बजाना चाहे तो नहीं बजा सकता था क्योंकि दो तार इसमें से हट चुके थे। संजय ने उन दो तारों को भी फिर से जोड़ दिया। ज्ञातव्य है कि सितार का आविष्कार वीणा और ईरानी तम्बूरे को मिलाकर अमीर ख़ुसरो ने किया था।

वैसे सालों पहले उस्ताद अब्दुल हलीम जाफ़र ख़ाँ ने सितार की नई तकनीक विकसित की थी, जो 'जाफरख़ानी बाज' के नाम से जानी जाती है। जिसमें उन्होंने कई तंत्र वाद्यों की विशेषताओं को एक स्थान पर एकत्र करने का कार्य किया। उन्होंने वीणा की तकनीकी विशेषताओं के साथ-साथ प्रतिध्वनि, मुर्की, जमजमा, घसीट, झाला, भरण, कण, छपका, उछल लड़ी, लहक और लड़त जैसी तमाम विशेषताओं को समाहित किया। उन्होंने एक मात्राकाल की अवधि को भी तीन-चार भागों में बाँटकर उल्टी और सीधी मींड, खटके, मुर्की और नाज़ुक गमक को प्रचलित किया। पर्दे, मींड और गमक- इन तीनों की तानों में दोनों हाथों को संतुलित करते हुए मिज़राब के वजन को सँभाला, उछल लड़ी को जोड़ा और गत भरण, गत अंग, झाला और गत के मुख्य अंश में अलग-अलग तरह का रंग भरा। 'जाफ़रख़ानी बाज़' में हारमोनिक नोट्स खुलकर प्रयुक्त होते हैं और मींड की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। ख़ाँ साहब ने भारतीय स्वरलिपि को अधिकाधिक समृद्धि और वैज्ञानिकता प्रदान करने हेतु कई चिह्नों, संकेतों की रचना की ताकि 'जाफ़रख़ानी बाज' की तकनीक जैसे खटका, मुर्की, जमजमा, गद्दा, कण, और हिक्का आदि को लोगों तक आसानी से पहुँचाया जा सके। एक ओर उन्होंने भारतीय संगीत के पाँच हज़ार से अधिक पूर्व आविष्कृत रागों में से कई अप्रचलित, लुप्तप्राय पुराने रागों, जैसे- चंपाकली, हिजाज, राजेश्वरी, अरज, श्याम केदार एवं फरगना आदि को अपनी मौलिक संगीत संरचनाओं से पुनर्जीवित किया, तो दूसरी ओर दक्षिण भारतीय संगीत के अनेक रागों यथा- लतांगी, चलनटी, कणकांगी, हेमवती, किरवानी और श्यामप्रिया आदि को उत्तर भारतीय वाद्य यंत्रों पर प्रथम प्रस्तुति का श्रेय भी उन्हें जाता है। इसके साथ ही उस्ताद ने सारावती, ख़ुसरोबानी, मध्यमी, चक्रधुन और कल्पना जैसे मधुर और मोहक रागों का सृजन करके भारतीय संगीत को समृद्ध किया है। आपने दो भिन्न संगीत शैलियों की सह-प्रस्तुति भी दी। उत्तर और दक्षिण भारतीय संगीत की जुगलबन्दी, भारतीय और पाश्चात्य संगीतकारों की मिलकर संगीत प्रस्तुति शामिल है। उस्ताद अब्दुल हलीम जाफर ने अमेरिका के प्रसिद्ध जाज़ वादक डेव ब्रुबेक एवं ब्रिटेन के गिटार वादक जूलियन ब्रीम के साथ सितार की जुगलबन्दी की है। फ़िल्म 'गूँज उठी शहनाई' में उन्होंने उस्ताद बिस्मिल्ला ख़ाँ की शहनाई के साथ जुगलबन्दी की है।

उस्ताद अब्दुल हलीम जाफर ख़ाँ

सितार की नई तकनीक विकसित की थी, जो 'जाफ़रख़ानी बाज' के नाम से जानी जाती है। जिसमें उन्होंने कई तंत्र वाद्यों की विशेषताओं को एक स्थान पर एकत्र करने का कार्य किया।

भारतीय तन्तु वाद्यों में जितने बदलाव देखे गए उतने और किसी में नहीं देखे गए होंगे चाहे वॉयलिन हो, हारमोनियम, मंडोलिन, आर्कटॉप गिटार और इलेक्ट्रिक गिटार, अब ये सभी भारतीय शास्त्रीय संगीत में स्वीकार हो गए हैं। ग्रैमी अवार्ड विजेता पं. विश्वमोहन भट्ट ने गिटार को भारतीय शास्त्रीय संगीत में लाने के लिए उसे 'मोहन वीणा' का रूप दिया। गिटार जैसे बजाया जाता है वैसे न बजाकर वे इसे गोदी में रखकर बजाते हैं और इसमें उन्होंने 19 तार संचित किए हैं। पूर्व में सन् 1940 के दशक में सरोद वादक राधिका मोहन मैत्रा ने सरोद को संशोधित किया जिसे संगीतज्ञ ठाकुर जयदेव सिंह, जो उस समय ऑल इंडिया रेडियो के मुख्य निर्माता थे, ने 'मोहन वीणा' कहा था। बाद में पं. भट्ट ने हवाईयन गिटार को संशोधित किया और उसे

'मोहन वीणा' कहा। सन् 1994 में पं. भट्ट के ग्रैमी पुरस्कार जीतने के बाद यह वाद्य अधिक रूप से 'मोहन वीणा' के नाम से प्रचलित हुआ। उनके बेटे सलिल भट्ट ने 'सात्विक वीणा' का आविष्कार किया। पं. भट्ट बताते हैं गिटार में मैंने कुछ नए तार लगाए, कुछ खूँटियाँ भी लगाईं। गिटार में जो तार पहले से लगे थे मैंने उन्हें हटा दिया और सितार और सरोद के तार को उसमें लगाना शुरू कर दिया। यह वर्ष 1967 की बात है। फिर बाद में मैंने इसमें तुम्बा लगाया। गिटार में तरब के तार, अतिरिक्त ब्रिज, चिकारी के तार आदि लगाकर उसका पूरा भारतीयकरण कर दिया।

भारत में स्लाइड गिटार के कई प्रकार हैं, जैसे 'चतुरंगुई' (पं. देबाशीष भट्टाचार्य द्वारा निर्मित, जिसे सन् 1978 भारत में स्लाइड गिटार के शुरुआती नवाचार के रूप में जाना जाता है), 'हंसा वीणा' (पंडित बरुण कुमार पाल द्वारा निर्मित), और 'शंकर वीणा' (कमला शंकर द्वारा निर्मित)। वाद्यों में नए प्रयोग होने से वे हैंडी हो गए हैं, इलैक्ट्रिक कॉड लगाकर एक सुर साधा जा सकता है। मतलब 'आवश्यकता ही आविष्कार' की जननी का मुहावरा यहाँ भी सिद्ध हुआ है। फ़िल्मों की बात करें तो ओ पी नैयर ने बहुत प्रयोग किए। पंचम दा ने कई प्रयोग किए 'ओ माँझी रे' (फ़िल्म 'ख़ुशबू') में माइनर रिद्म कूक की आवाज़ है जो उन्होंने ख़ाली व्हिस्की की बोतल को बजाकर किया था। इसी तरह 'चुरा लिया है' जिसकी शुरूआत में ज़ीनत अमान जो दो ग्लासेस बजाती हैं, वे वास्तव में ग्लास ही बजे हैं। उसका क़िस्सा यूँ है कि आशा भोसले को कहा चलिए चोर बाज़ार चलते हैं। वे दोनों चोर बाज़ार गए, वहाँ से दो ग्लास ख़रीदे और जो ग्लास दिख रहे हैं उन्हें ही स्ट्रोकिंग करके उसमें से ध्वनि निकाली गई। एक बार उन्होंने जंगल में जाकर रात भर मचान पर बैठकर ध्वनि रिकॉर्ड की।

किसी वाद्य का स्वरुप जब बदलता है तो उसका पैरहन ही नहीं बदलता, बल्कि उसका नया नामांकरण भी हो जाता है। नए पैरहन में सजा वाद्य जिस मूल स्वरुप के एकदम नज़दीक होता है, उसे उसका हमसाज़ कहा जाता है। लेकिन इस पर मतांतर हो सकता है।

अर्थात् संगीत तो हर जगह बिखरा है, हर तरह से उसे परिष्कृत किया जा सकता है। आप में उतना माद्दा होना चाहिए कि आप नया आविष्कार करते हैं या नई परिणति। संगीत के लिए न कोई सीमा है न कोई बन्धन, हर तरह के संगीत से सुर को और सुर के ईश्वर को पाया जा सकता है।

- swaraangisane@gmail.com

उषा संतराम

मौन में महक उठता है राग

मूल रचना– **वासुदेव मूर्ति**
अनुवाद– **स्नेहा कामरा**

संगीतकार वासुदेव कृष्णमूर्ति की अंग्रेज़ी में लिखी पुस्तक ''व्हाट द राग्स टोल्ड मी'' इन दिनों ख़ासी चर्चा में है। भारतीय शास्त्रीय संगीत के रागों पर आधारित लम्बे आलेखों का यह संग्रह संगीत की व्यावहारिक और आध्यात्मिक समझ का नया फ़लक तैयार करता है। हाल ही इस किताब का हिन्दी अनुवाद स्नेहा एस कामरा ने किया है। संगीत अनुरागी होने के साथ ही स्नेहा संपादन और ध्वनि कलाकार बतौर भी सक्रिय हैं। 'रंग संवाद' के आग्रह पर अनुवादक ने ख़ासतौर पर यह आलेख साझा किया है– 'सुर में'। रागों के संसार की एक रहस्यमय खोज में, एक सौम्य रूह भारत के चमत्कारिक संगीत का सार खोजती है। रागों के रहस्यों का अनावरण करने के लिए कथावाचक अपनी आत्मा को एक मिशन पर भेजता है। यह भैरवी, कामोद, चारुकेसी, बसन्त और कई अन्य रागों की जीवन्त छवियों और गूढ़ अवतारों के साथ लौटती है, जिनमें से प्रत्येक के पास कहने के लिए अपनी जादुई कहानी है। इस काव्यात्मक और अनोखी पुस्तक में लेखक ने सहजता से रचनात्मकता की दो दुनियाओं को पाट दिया है। इसे पढ़ना एक गहरे रोमांच से गुज़रना है।

आह! मेरा अद्‌भुत भाग्य! इस देश की धरती पर पैदा होना, जिसमें ऐसा संगीत है जो केवल स्वर्ग से बरस सकता है! हर सुबह, भोर से पहले, मैं ध्यान में बैठता था। कई वर्षों तक मौन के जादू से बँधा होने के बाद, मैंने साथ में अपना तानपूरा बजाना भी शुरू किया। इसने मुझे बिल्कुल भी विचलित नहीं किया। जल्द ही मेरी उँगलियाँ मशीन की तरह चलने लगीं, लगभग स्वतंत्र रूप से– तारों को छेड़ते हुए.... प सा सा – सा

क्या वे मेरे उद्‌देश्य को समझते हैं? मुझे तो ऐसा ही लगता है। मेरे ध्यान सत्र और भी अधिक रोचक और गहन हो गए। मेरे भीतर की ऊर्जा जैसे अब बह रही थी, वैसे पहले कभी नहीं बही। प्रत्येक छेड़ा हुआ तार कुछ इस तरह से कम्पित हो रहा था, मानो उसमें स्वयं का एक जीवन हो और ध्वनि मद्धम होते–होते गायब होने लगती, लेकिन उससे पहले अगला छेड़ा हुआ तार अपनी उपस्थिति की घोषणा कर चुका होता है, दूसरों के सम्मान और अपनी गरिमा के साथ।

मेरे शरीर की कोशिकाओं पर कम्पित होने वाली ध्वनियाँ और उनका सामंजस्य अवर्णनीय था। जैसे मेरा रोम–रोम तानपूरे की कृपा से उत्पन्न परिणामों तक पहुँचने और उन्हें झपट लेने के लिए अग्रसर था। ऐसे कई सारे सत्रों के बाद, जब मैं प्रौढ़ावस्था में था, तो मुझे लगा कि मेरे भीतर कुछ पैदा हो कर बड़ा हो रहा है। मैंने उसे निष्पक्ष भाव से देखा और ख़ुद को पहचानने और मुक्त होने के लिए उसके संघर्ष को भी देखा। मुझे पता था कि यह क्या था और क्यों आया है?

जल्द ही, मैंने अपनी आत्मा को बाहर आने दिया। वह मेरी हथेली पर एक पँखुड़ी की तरह हल्के से बैठ गई और मुझसे पूछा कि मैं उससे क्या करवाना चाहता हूँ। मैंने उसे कहा कि वह जाए और इस पुण्यभूमि में भ्रमण करे। इसके संगीत के बारे में जाने और मुझे बताए। ये राग कहाँ से आए हैं? वे क्यों आए और उनके पास कहने के लिए क्या है?

और इसलिए मेरी आत्मा नीले आकाश में ऊपर की ओर उड़ी और अपनी यात्रा पर निकल गई। एक क्षण वह पूर्व में थी और फिर पश्चिम में। फिर दक्षिण और फिर उत्तर। कोई निश्चित मार्ग नहीं था। उसने बस अपनी आँखें सहजता से बन्द कर लीं और जैसा उसका मन हुआ, वैसा ही वह गोल-गोल घूम रही थी और गोते लगा रही थी... वह सुन रही थी... सुनते जा रही थी! वह सुन रही थी भारत की ध्वनियों और गीतों को। और वह उन रागों की आत्मा की ओर इशारा कर रही थी, जिन्होंने स्वयं को उस दिव्य संगीत को समर्पित कर दिया था।

भोर के समय उसने पहले नदियों के तटों का आलिंगन किया और फिर ज़रा-सा छूते हुए उनके ऊपर से निकल उन्हें पार कर गई। वह रेगिस्तानों में घूमी और उस असहनीय गर्मी का आनन्द लिया जिसने हवा को भी पंगु बना दिया था। वह गाँवों और खेतों में गई और हरे रंगों के स्वरों को समझा। वह समुद्रतट के गाँवों के मछली पकड़ने के जाल में घुस गई और समुद्र की आवाज़ और मछलियों के लिए गीत गाने वाले लोगों की आवाज़ सुनते हुए अपना सिर हिला रही थी। वह मन्दिर की घंटियों पर बैठ गई और उन्हें बजते हुए सुनती रही, जब घंटियाँ अपने शुद्ध स्वरों को ब्रह्मांड के बाक़ी हिस्सों में भेज रहीं थीं। उसने उन गीतों को सुना, जो लोग उन मंदिरों और गुरुद्वारों में गाते थे। उनकी आँखों में आए आँसुओं को छुआ, जो उनका स्वागत करती हुई धरती पर, उतर जाते थे। उसने उन पुरुषों के गीतों और धुनों को सुना, जो अपने ही परमानन्द में खोए हुए, एकतारे के साथ भारत के भीतरी इलाकों में एक गाँव से दूसरे गाँव घूमते थे और जिन्हें धन अथवा प्रसिद्धि जैसी स्थूल वस्तुओं की कोई लालसा नहीं थी। उसने माताओं को गोद में लेटे बच्चों का हाथ पकड़कर लोरी गाते सुना, जिससे वो उन्हें हौले से नींद के आग़ोश में छोड़ देती थीं। उसने नींद विहीन रातों में, सड़कों पर भिखारियों को ईश्वर से पूछते हुए सुना, कि उसने उन्हें इस तरह से सज़ा क्यों दी और उन्हें उन पर दया क्यों नहीं आई? उसने पुण्यात्मा पुरुषों को अपने बिना खिड़की वाले कमरों में अकेले गाते हुए सुना, जब वे ईश्वर से जीवन के दिन और रात के थका देने वाले चक्र से छुटकारा देने के लिए प्रार्थना कर रहे थे। वह मातम मनाने वालों की गहरी उदासी और धार्मिक मंत्रोच्चार की गम्भीरता को महसूस करती हुई, श्मशान घाट के पास आदरपूर्वक बैठी।

मैं ध्यान में बैठा। जल्दी ही मुझे समझ में आ गया कि ध्वनियाँ हैं। मैं मौन की ध्वनि सुन सकता था और ब्रह्मांड के महान उद्देश्य को समझ सकता था। या फिर मैं रागों को सुन सकता था, जो भी वे मुझे बताना चाहते थे।

अनुपम पाल

उसने मुझे, धीरे से फुसफुसाते हुए, प्रत्येक राग के पीछे की सांगीतिक आत्मा के बारे में बताया कि वे कैसे

दिखते थे और क्या चाहते थे! उसने मुझे उन भावों का वर्णन किया जो प्रत्येक राग उन गीतों में उत्पन्न करता है, जिनमें उनका आह्वान किया जाता है।

मैं ध्यान में बैठा। जल्दी ही मुझे समझ में आ गया कि उन रागों में ईश्वर की ध्वनियाँ हैं। मैं मौन की ध्वनि सुन सकता था और ब्रह्मांड के महान उद्देश्य को समझ सकता था। या फिर मैं रागों को सुन सकता था, जो भी वे मुझे बताना चाहते थे। ये दोनों एक ही बात थी। यह और भी शीघ्र हो सकता था, हालाँकि वास्तव में समय का कोई महत्व नहीं था।

मैंने मेरी आत्मा से हस्तक्षेप करने को कहा। मैंने पूछा– ''क्या वह रागों की आत्माओं को स्वयं मेरे पास आने और मुझे आशीर्वाद देने के लिए कहेगी?''

''नहीं, वे ऐसा नहीं करेंगे'', उसने कहा– ''वे तुम्हारे अहंकार के लिए कुछ भी नहीं करेंगे। लेकिन सम्मानपूर्वक उनका आह्वान करो और उनसे स्वयं को और उनके उद्देश्य को प्रकट करने के लिए विनती करो''। अब यह बात सम्भव थी। मैं तुरन्त विनम्र हो गया, और मैंने वैसा ही किया जैसा मुझे बताया गया था। लेकिन पहले, ख़ुद को शान्त करने के लिए, मैंने कई और महीनों तक ध्यान करना जारी रखा, जिससे मेरी आत्मा मुक्त हो कर घूम सके, सुन सके और लौट कर वापस मेरे पास आ सके।

मैं तानपूरे की शुद्ध ध्वनियों को ध्यान से सुनता रहा। अपने भीतर मैंने वह कैनवास तैयार किया, जिस पर मैं चाहता था कि राग अपनी पूरी महिमा में स्वयं को प्रकट करें। जल्द ही मैं ख़ुद को तानपूरे जैसा महसूस करने लगा। पूर्ण सामंजस्य में! संगीत और रागों के बारे में जानने की इच्छा रखने वाले किसी भी व्यक्ति की मदद करने के लिए दिया गया, एकदम सही संगीत निर्माण। शुद्ध स्वरों का उतार-चढ़ाव होने लगा, जिसमें वे एक-दूसरे में जुड़ते और एक-दूसरे को रद्द भी करते। कम्पन अपना समय ले कर समाप्त होते। वे ख़ूबसूरती से ट्यून हो गए थे। मेरे भीतर!

> मुझे किसी को मत दिखाओ। मैं तुम्हारा तभी हूँ, जब तुम एकान्त में हो। मैं तुम्हारे अहंकार का बिम्ब नहीं रच सकता। मैं स्वयं को तब तक प्रकट नहीं कर सकता, जब तक तुम मुझे विनम्रता और श्रद्धा के साथ धीमी ताल में नहीं गाते। अपनी आँखें बन्द करो।

एक रात मेरी आत्मा अपने आप कहीं चली गई और पहले राग का सार ले कर वापस आई। हौले से फुसफुसा कर मेरी रूह ने मुझे राग की पहचान बताई। जब राग 'सोरठ देस' ने मेरे सामने आकार लिया, तो मैं विस्मय से देख रहा था।

राग सोरठ देस

चाँदनी में मैंने एक नेक, अत्यंत बुद्धिमान और शान्त व्यक्ति के चेहरे को आकार लेते देखा। उनका माथा सिलवटों रहित, चौड़ा और ऊँचा था। उनकी आँखें शान्त और ज्ञान से परिपूर्ण थीं। उनमें भी गहरी कोमलता और सौम्यता थी। यह वो चेहरा था, जो उत्तम चिन्तन-मनन और युगों के ध्यान से आया था। उसे पता था कि ईश्वर से क्या प्रश्न पूछने हैं! वो जानता था कौन से उत्तर वापस आ सकते हैं। उन्होंने सादे सफ़ेद कपड़े पहने हुए थे और उनकी दाढ़ी लम्बी थी। उनके बालों का रंग भी सफ़ेद था, लेकिन उनकी दमकती हुई त्वचा बेहद गरिमापूर्ण थी। वे कृषकाय थे और हाथों को गोद में रखे हुए, सहजता से कमल की स्थिति में, पद्मासन में सीधे बैठे हुए थे।

''हाँ, मैं इस राग से बहुत कुछ सीखूँगा!'' मैंने सोचा। उन आँखों ने मुझे एकटक देखा। मैंने भी बिना किसी भय के पलटकर देखा। मैंने उनकी गहराई में प्रेम देखा। जैसे-जैसे मैं देखता गया, मैंने उनमें भी बदलाव होते हुए देखे। एक शान्त ईश्वर की इच्छा के अधीन, एक नियन्त्रित प्रार्थना, अस्तित्व की व्यर्थता को समझने से प्राप्त हुआ ज्ञान। यह सब गहराई से द्रवित करने वाला था। मैं देख रहा था, उस रूह में से एक चमकता हुआ प्रकाश पुंज बाहर निकला और मेरे भीतर प्रविष्ट हो गया। मेरे तानपूरे के स्वर बहुत ही सूक्ष्मता से परिवर्तित हो गए। एक नया स्वर जोड़

दिया गया था। शुद्ध ऋषभ। निर्भीक किन्तु अपने मातृस्वर 'षड़ज' के प्रति सम्मानजनक, जो पहले से ही मौजूद था और आधी मुस्कान के साथ सौम्यता से देख रहा था। उसने एक जागृति की बात की और मुझे निशब्द रूप से कहा कि सूर्य जल्दी ही उदय होगा।

शीघ्र ही छवि से अन्य स्वर निकले और मुझमें प्रविष्ट हो गए। षड़ज और पंचम के बीच एक घूँघट से छिपा हुआ शाँत, संतुलित शुद्ध गन्धार। इनके बाद आया शुद्ध मध्यम, मातृत्वपूर्ण और पोषक। इसके बाद शुद्ध धैवत: साहसी, निर्भीक और मजबूत एवं उसके बाद दो भगिनी–स्वर कोमल और शुद्ध निषाद आए। बड़ी भावुक, संयमी और सख़्त थीं, जिन्हें छोटी, अधिक मुखर, अलंकृत और उन्मुक्त भगिनी की आवश्यकता थी। वे हाथ पकड़कर मेरी ओर बढ़ीं, उनके लम्बे केश और उनकी सुनहरी साड़ियाँ एक अनदेखी हवा से मन्द गति से लहरा रहे थे। स्वरों की इस उत्तम श्रृंखला ने स्वयं को मेरे सामने प्रस्तुत किया। थोड़ी–थोड़ी देर में कभी वे मेरे भीतर विलय हो जाते और कभी बाहर निकल जाते। बहुत जल्द, मैंने महसूस किया जैसे उनके संयुक्त सन्देश का सार मेरे अस्तित्व में ही समा गया है। हाँ, मैं राग सोरठदेस की बात सुनने के लिए तैयार था।

स्वरों की इस उत्तम श्रृंखला ने स्वयं को मेरे सामने प्रस्तुत किया। थोड़ी–थोड़ी देर में कभी वे मेरे भीतर विलय हो जाते और कभी बाहर निकल जाते। बहुत जल्द, मैंने महसूस किया जैसे उनके संयुक्त संदेश का सार मेरे अस्तित्व में ही समा गया है। हाँ, मैं राग सोरठदेस की बात सुनने के लिए तैयार था।

उन्होंने अपनी आँखें बन्द कर लीं और मैं देखता रहा। यह बहुत लम्बे समय जैसा लग रहा था, लेकिन मुझे लगा कि मेरे अंग बहुत शिथिल हो गए हैं। मैंने एक शान्त सरोवर देखा, जिसके चारों ओर पुराने पीपल और बरगद के पेड़ थे, उनकी शाखाएँ पानी में बिना आवाज़ के डूबी हुई हैं। एक पेड़ के सामने सफ़ेद रंग का एक बहुत छोटा–सा मन्दिर था। कोई कमल के कुछ फूल सामने छोड़ गया था। आसपास कोई नहीं था, कोई पुरुष या स्त्री, कोई जानवर, शायद कोई कीट–पतंग भी नहीं। लेकिन मैं सौम्य शीतल हवा

अमर सिन्हा

महसूस कर सकता था। मेरा मन सरोवर बन गया। उनके सुखदायक शब्द पानी की सतह पर पंख की तरह तैर रहे थे।

''अपने मन को शान्त और स्थिर होने दो और मुझे सुनो।''

जब प्रारम्भ होता हूँ, एक गम्भीर व धीमे शुद्ध गन्धार से, तो तुम मन को शान्ति के द्वारा आच्छादित किया हुआ महसूस करोगे। यही तरीक़ा है जिससे तुम्हें सत्य के लिए अपनी मौन खोज शुरू करनी चाहिए।

मैं सोचता हूँ और विलाप करता हूँ कि परमात्मा के लिए हमारी खोज एक प्रश्न से शुरू होती है, लगभग एक शिकायत से। शुद्ध मध्यम, शुद्ध ऋषभ, फिर शुद्ध मध्यम और पंचम के साथ मैं क्षमा माँगता हूँ। मुझे पता है कि वो है। मैं सम्मान के साथ पूछता हूँ कि उसके द्वारा स्वयं को मेरे सामने प्रकट न करने से क्या उद्देश्य पूरा होता है। उस सरल वाक्यांश में, मैं अपने स्वयं के प्रश्न का उत्तर भी देता हूँ और आह भरता हूँ कि केवल वही जानता है कि यह क्यों आवश्यक है। मैं फिर भी अपना कर्तव्य निभाऊँगा और पुरस्कार की अपेक्षा किए बिना उसकी आराधना करूँगा। क्या तुम मेरी आह नहीं सुन सकते? आह, राजसी पंचम की चमक, अपने एकाकी वैभव में जगमगा रही है, जो अन्तरिक्ष के घोर अन्धकार में प्रकाश की किरण की तरह लंबे समय तक बजता है। मुझे आराम से गाओ। मौन मेरा हिस्सा है। और मैं तुम्हें उसकी ओर ले जाऊँगा जिसे तुम खोज रहे हो, चाहे उसे ईश्वर कहो या कुछ और।

हुसैन

क्या तुम मेरी आह नहीं सुन सकते? आह, राजसी पंचम की चमक, अपने एकाकी वैभव में जगमगा रही है, जो अन्तरिक्ष के घोर अंधकार में प्रकाश की किरण की तरह लम्बे समय तक बजता है। मुझे आराम से गाओ। मौन मेरा हिस्सा है। और मैं तुम्हें उसकी ओर ले जाऊँगा जिसे तुम खोज रहे हो, चाहे उसे ईश्वर कहो या कुछ और।

हर पल जब मैं रहता हूँ, जो भी सुनेगा उससे मैं कोमल निषाद, शुद्ध धैवत, शुद्ध मध्यम और पंचम के साथ पूछता हूँ और याचना करता हूँ कि यह सब कब ख़त्म होगा? पंचम के साथ मैं एक तपस्वी के जीवन की तलाश करता हूँ जो किसी चीज़ या किसी के प्रेम से परेशान है जिसे मैं पहचान नहीं सकता। फिर भी उत्तर निहित है, अब भ्रामक नहीं। मेरे द्वारा परमात्मा का चिन्तन करो। कभी मैं शुद्ध निषाद के साथ निर्भीक हो जाता हूँ, तो कभी कोमल निषाद के साथ निराशा व्यक्त करता हूँ। तब मेरा मन हमेशा मौजूद, हमेशा भरोसेमन्द पंचम में वापस आ जाता है, जो मुझे फिर से केन्द्रित करता है।

मुझे किसी को मत दिखाओ। मैं तुम्हारा तभी हूँ, जब तुम एकान्त में हो। मैं तुम्हारे अहंकार को प्रतिबिंबित नहीं कर सकता और मैं स्वयं को तब तक प्रकट नहीं कर सकता, जब तक तुम मुझे विनम्रता और श्रद्धा के साथ धीमी ताल में नहीं गाते। अपनी आँखें बन्द करो। और जब तुम मुझे गाते हो और अपने मन की आँखों

से मेरा वर्णन करते हो, तुम्हारा शरीर सम्मान के साथ पीछे हट जाता है। तुम्हारी आत्मा को सांत्वना महसूस करने देता है। जब तुम एक स्पष्ट और शांत मन के साथ, अपने आस-पास बिना किसी हलचल और बिना किसी आवाज़ के, शान्ति से आराधना करना चाहते हो, मुझे बुलाओ, मैं आकर तुम्हारी मदद करूँगा।

''कितना सुन्दर है एकाग्र, शान्त मन। कोई भी विचार उस मन को विचलित करने का साहस नहीं करता, जिसने मुझे गाकर शान्ति प्राप्त की है। तुम्हारे द्वारा मुझमें रचे गए प्रत्येक वाक्यांश के भीतर शाश्वत सत्य गुंथे हुए हैं और उन्हें छिपने या भ्रामक होने की आवश्यकता नहीं लगती है। पुनर्जन्म क्यों हो? जब तुम मुझे गाते हो, तो तुम कोई बुराई नहीं कर सकते। जैसे ही तुम खोजते-खोजते वही प्रश्न कई बार पूछते हो और बार-बार उत्तर सुनने की प्रतीक्षा करते हो, जो कि इतने स्पष्ट हैं, तुम निषाद से आगे बढ़ते हो और अगले सप्तक में जाते हो, तुम्हारे पाप विलय हो कर नष्ट हो जाते हैं। तुम्हारा मन तुम्हारी आत्मा की गहराइयों में अधिक से अधिक खोजते हुए गहरा और गहरा गोता लगाएगा और फिर भी सहजता से वर्तमान में लौटेगा, यह समझते हुए कि बाहरी दुनिया की बेचैनी एक भ्रम है, जिसे तब तक सहन करना ही पड़ेगा, जब तक तुम्हारी आत्मा अपने अस्थायी घर से आगे बढ़ने के लिए तैयार नहीं हो जाती। तुम्हारा शरीर अब तुम्हारी कोई विशेष देख रेख नहीं चाहता। तुम्हारा मन बाहरी दुनिया के लिए सुगन्ध बन जाता है। मुझे गाने के बाद मौन को सुनो और देखो कि अन्ततः कोई अन्तर नहीं था!''

हालाँकि मेरी आँखें बन्द थीं, मैं जल्द ही बता सकता था कि वह छवि विलीन हो रही है। और हालाँकि मेरी पलकों ने मेरी आँखों को ढँका हुआ था, मेरी पलकों को भिगोते हुए आँसू बाहर निकल रहे थे। फिर भी और फिर भी मेरा मन पूरी तरह से शान्त था। मैं जागा हुआ नहीं हो सकता था और मैं सोया हुआ भी नहीं हो सकता था।

कहीं दूर... तबला बज रहा था। लगभग ध्वनिरहित और पूरी तरह ग़ैर-दख़लअंदाज़ी से। एक शिथिल मनोरम एकताल ने समय को बिना किसी जल्दबाज़ी के चिह्नित किया। मेरे मन के भीतर कहीं गहरे में, छवि से एक संगीतमय आशीर्वाद ने आकार लिया और मेरे भीतर फैल गया, प्रत्येक कोशिका को कोमलता से दुलारते हुए और प्रेम से उन सभी को भक्ति में बाँधते हुए। आशीर्वाद ने स्वयं को ताल की कोमल लय पर सवारी करने की अनुमति दी, अलहदा फिर भी मिश्रित!

1 2 3 4 5 6 7 8 9 10 11 12

ग - सा रे - म प - ध म - प

नि सा^ नि ध - म प - - - - -

यह बार-बार दोहराया गया और हर बार मैंने और अधिक सुना और समझा। आह! क्या अद्भुत सौन्दर्य! अनन्त शान्ति के कैसे दैवीय वादे!

-drsnehakamra@gmail.com

हुसैन

खुली हवा में साँस लेता स्वर

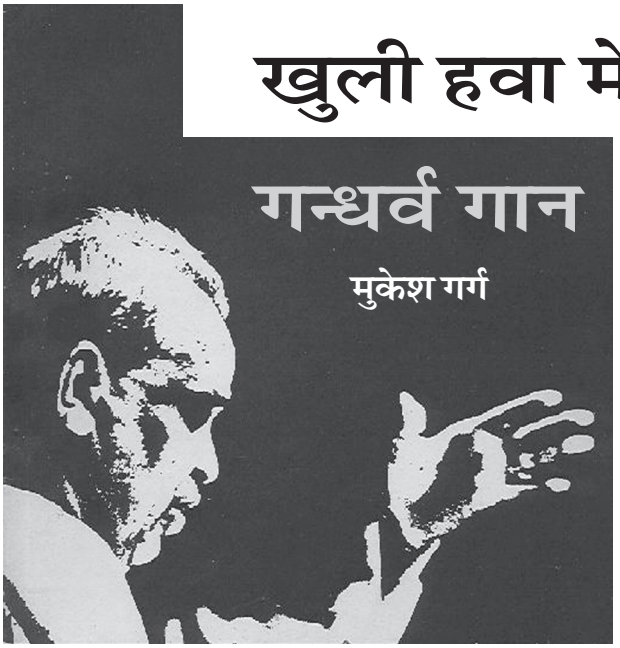

यह ऐतिहासिक भेंटवार्ता अप्रैल 1990 में मूर्धन्य गायक पं. कुमार गंधर्व से दिल्ली के गन्धर्व महाविद्यालय में संगीत समीक्षक मुकेश गर्ग ने की थी। पंडितजी मुश्किल से इस सम्वाद के लिए तैयार हुए थे। तब 'नवभारत टाइम्स', दिल्ली में इसका प्रकाशन हुआ था। इस बेबाक़ बातचीत में कुमारजी का क्रान्तिकारी संगीतकार तो उजागर होता ही है, उनकी बेबाक़ी संगीत चिन्तन के भी कई नए आयाम खोलती है। पंडित जी का यह शताब्दी वर्ष है। प्रसंगवश उनके कृति-व्यक्तित्व को याद करते हुए यह विरल वार्ता....।

कुमार गन्धर्व यानी हिन्दुस्तानी संगीत का नया सौंदर्यशास्त्र। कुमार गंधर्व यानी बग़ावत। घरानों के ख़िलाफ़ बग़ावत। ऐसी बग़ावत जिसने घरानों के नाम पर चली आ रही 'श्रेष्ठता' का पर्दाफ़ाश किया। बताया कि नकल कर लेने से कोई बड़ा नहीं होता। बड़ा होता है सृजन से, कुछ नया रचने से। ''मैं तोताराम नहीं हूँ'' कहना है उनका।

कुमार गन्धर्व की बग़ावत से घरानेदार संगीत के हिमायतियों में खलबली मच गयी। जिन्हें अभिमान था कि संगीत को घरानों ने पनपाया है, उनके सामने अब ऐसा आदमी आ खड़ा हुआ जो कह रहा था कि घरानों की ही वजह से हमारा संगीत नीचे गया है। यह कोई छोटी बात नहीं थी, वह भी आज से कई साल पहले। नतीजा यह कि हर तरफ़ से हमले होने लगे कुमार पर। कोई कहता- ''यह भी कोई गाना है, इयै करके बिल्लियों की तरह आवाज़ निकालना!'' (आचार्य बृहस्पति)। बहुतों को कुमार के राग-रूपों से शिकायत होने लगी- ''अगर राग के परम्परागत रूप की रक्षा नहीं कर सकते तो उसका नाम बदलकर कुछ और क्यों नहीं रख लेते?'' किसी ने इल्ज़ाम लगाया- ''मेरे बनाए राग 'वेदी की ललित' में तुमने तीव्र निषाद लगा दी और कह दिया लगनगन्धार! हमारे राग के ऊपर तुम एक सुर और नया लगाते हो!!'' (पं. दिलीपचन्द्र वेदी)। ग़रज़ यह कि परम्परा के प्रति भावुक लगाव रखने वाला हर संगीतज्ञ कुमार गन्धर्व को एक ख़तरे के रूप में देखने लगा और यह ग़लत भी नहीं था। कुमार ने उन जड़ों को ज़ोरदार झटका दे दिया था, जिन पर हिन्दुस्तानी संगीत का वटवृक्ष सीना ताने खड़ा था।

क्या सचमुच कुमार परम्परा-विरोधी हैं, इसकी पड़ताल के लिए उन्हीं से पूछा- ''कुछ लोगों का आरोप है कि आप परम्परा को नहीं...।'' इतना सुनना था कि आवेश में आ गए- ''परम्परा के ऊपर आप क्यों इतने लट्टू होकर बैठे हैं? हमको समझ नहीं आता। फिर क्यों नहीं रहते आप पुरानी तरह से? यह इतना फ़ालतू लफ़्ज़ है। लोग इसमें क्यों इतने अटके हैं? आप आगरा-फोर्ट देखने जाइए न! मैं तो नकार नहीं कर रहा। हम भी जाते हैं आपके साथ। अच्छा भी लगता है। आपको फिर राजा लोग चाहिए क्या? फिर बैलगाड़ी चाहिए आपको? यानी, फिर कुआँ चाहिए क्या? तो फ्लश-संडास निकाल दीजिए घर से। आपको फ्लश-संडास भी चाहिए घर में, नल भी चाहिए और कुआँ भी चाहिए। और कुआँ का अभिमान भी छूटना नहीं चाहिए आपको!''

जवाब सुनकर मैं हैरान रह गया। कैसी बेलाग टिप्पणी है हमारे दोगले जीवन-मूल्यों पर। 'फिर राजा लोग चाहिए क्या' में कितनी गहरी समझ है। किसी कट्टर घरानेदार से यह वाक्य सुनने को नहीं मिलेगा आपको। उलटे रजवाड़ों के न रहने का रोना ही सुनेंगे उससे। यह वो चीज़ है जो एक तरफ़ कुमार गन्धर्व की समाज-सापेक्ष चिन्तनशीलता का सबूत देती है, तो दूसरी तरफ़ उनकी गायकी का रहस्य भी खोलती है। यह बताती है कि क्यों परम्परागत गायकी और कुमार गन्धर्व की गायकी एक-दूसरे को पीठ दिए बैठी रहती हैं। एक ही उत्स से जन्म लेकर भी क्यों दोनों अलग दिशाएँ पकड़ती हैं और आगे जाकर उन में इतनी दूरी आ जाती है कि समझौते की सम्भावना तक बाक़ी नहीं बचती।

असल में हमारे ज़्यादातर संगीतज्ञ, जिन में पढ़े-लिखे भी हैं, 'परम्परा' का जो मतलब समझते हैं, गड़बड़ उसी में है। उनकी नज़र में परम्परा का अर्थ है पिछली पीढ़ियों से मिली कलात्मक सम्पदा को ज्यों-का-त्यों अपना लेना। उसी को शुद्ध और आदर्श मानना। उस में ज़रा-सी मिलावट, प्रयोग की हलकी-सी आहट भी उन्हें विचलित कर देती है। ताज्जुब की बात यह है कि इन में ऐसे लोग भी हैं, जो मानते हैं कि हमारा संगीत कभी एक-सा नहीं रहा, बदलता रहा है। आप उनसे कह दें कि आज की ज़रूरतों के हिसाब से कुमार गन्धर्व भी संगीत को बदल रहे हैं तो वे आपे से बाहर हो उठेंगे- ''यह बदलना नहीं, शास्त्रीय संगीत की धज्जियाँ उड़ाना है।'' मज़े की बात है कि कुमार ने अपने को सच्चा परम्परावादी माना- ''मेरे जितना ऑर्थोडॉक्स कोई है ही नहीं।'' कितना आत्मविश्वास है उन्हें- ''और मैं ऑर्थोडॉक्स हूँ, इसीलिए कुछ कर सकता हूँ। आप फंडामेंटल विचार करना छोड़ बैठे हैं संगीत में, तो इसमें मेरा क्या कसूर।''

इसीलिए कुमार गन्धर्व को स्वच्छंदतावादी कह देना इतना आसान नहीं। 'स्वच्छंदता' से निजी स्वार्थ की और परम्परा के तिरस्कार की गन्ध आती है। कुमार में ये दोनों ही नहीं। उनका विद्रोह बन्धनों से मुक्ति नहीं चाहता वह। ''राग-संगीत में बन्धन है। जितना बन्धन आप डालेंगे, उसका 'पावर' बढ़ता जाता है।'' किसी स्वच्छंदतावादी से कभी सुनी है आपने ऐसी बात? कुमार ने हमारे रागदारी संगीत को ताज़ा हवा में साँस लेने का मौक़ा दिया। जड़ बन्धनों को काटकर उसे पनपने और फिर से तन्दुरुस्ती हासिल करने का अवसर दिया है। लोक-संगीत का उनका अभ्यास उनके रागदारी संगीत को ऑक्सीजन देता है। इस तरह उनका संगीत अभिजात होते हुए भी लोकोन्मुखी है।

ज़्यादातर संगीतज्ञ, जिन में पढ़े-लिखे भी हैं, 'परम्परा' का जो मतलब समझते हैं, गड़बड़ उसी में है। उनकी नज़र में परम्परा का अर्थ है पिछली पीढ़ियों से मिली कलात्मक सम्पदा को ज्यों-का-त्यों अपना लेना। उसी को शुद्ध और आदर्श मानना। उस में ज़रा-सी मिलावट, प्रयोग की हलकी-सी आहट भी उन्हें विचलित कर देती है।

मैं घराने की कुलीगीरी नहीं करता

कुमार गन्धर्व की शिकायत है कि घरानों ने हमारे संगीत की सर्जनात्मकता समाप्त कर दी है। वे कलाकार से कुलीगीरी कराते हैं। 'कुलीगीरी यानी लीक पर चलना, जो पुराने कहते चले आ रहे हैं, उसे कहना। बोझ लेकर चलना। घराना तो एक बोझा ही हुआ न! मेरे ऊपर बोझा नहीं है। मेरे अपने संगीत का जब मुझ पर बोझा नहीं, तो आपका बोझा कहाँ लेता फिरूँ मैं! मैं ने कल जो गाया, वह ख़त्म हो गया। आज फिर फ्रैश विचार करूँगा। मेरे पास राग है और ताल है। जो गाया, उसको काहे को, क्यों याद रखूँ? आप जब लिखते हैं, तो कुछ याद करते हैं क्या? कविता करते में कुछ याद करते हैं आप? एक कविता करने के बाद दूसरी लिखते वक़्त पहली को याद करते हैं आप? अच्छी पेन्टिंग करने के बाद नई पेन्टिंग बनाते समय आपको उसे याद रखना पड़ता है क्या? फिर संगीत से ही ऐसी उम्मीद क्यों करते हैं? संगीत को आप फिर कला क्यों कहते हैं?

कुमार गन्धर्व के ये सवाल किसी सिरफिरे के सवाल नहीं। न किसी एक आदमी के सवाल हैं ये। हमारा पूरा युग इनके पीछे हिलोरें ले रहा है। सामन्ती कला के सामने लोकतंत्री आशा-आकांक्षाओं से पैदा हुए सवालिया निशान हैं ये। दरबारी सौंदर्यशास्त्र के ख़िलाफ़ जनतन्त्री सौंदर्यशास्त्र की बग़ावत हैं ये। इन्हें झुठलाया नहीं जा सकता, दबाया नहीं जा सकता।

- drmukeshgarg@gmail.com

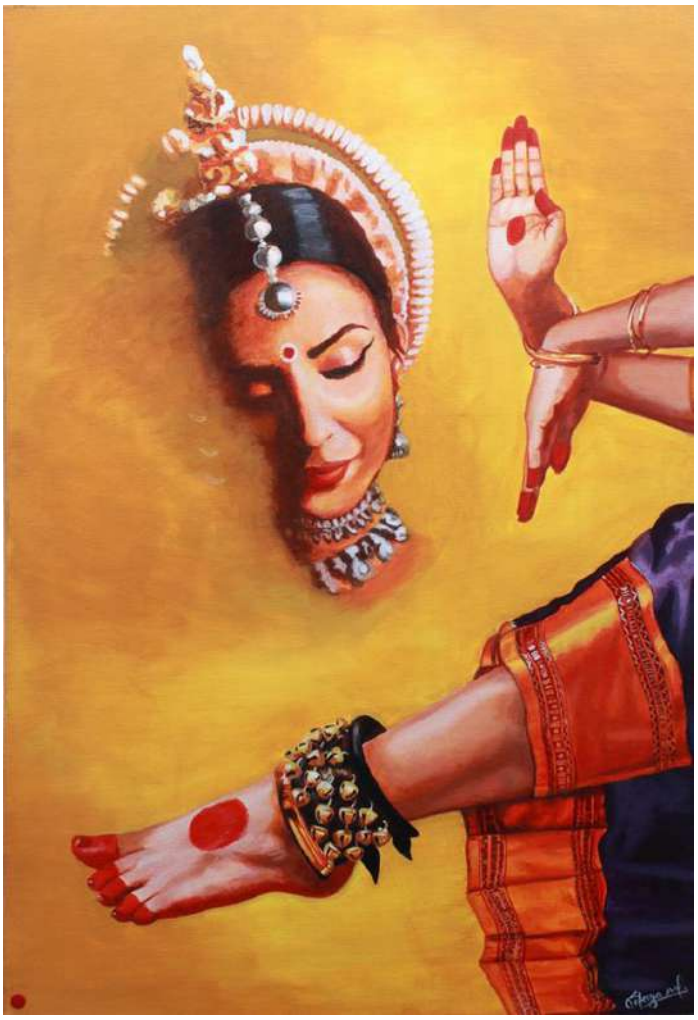

कितना जोड़ना है, किस हद तक प्रयोग करना है, इसका तालमेल बैठाना होगा। यानि परफ़ॉर्मर के भीतर एक तराज़ू या तुला हमेशा रहनी चाहिए जिसके दोनों पलड़ों में एक शास्त्रीय परम्परा का होगा और एक नवोन्मेषी प्रयोगों का। दोनों का पलड़ा जब तक एक समान है, तब तक नवाचार करने में क्या बुराई?

प्रयोग के चेहरे पर परम्परा का नूर

वार्ता आलेख: **विवेक सावरीकर मृदुल**

भारतीय शास्त्रीय नृत्यों में इन दिनों भरपूर नवाचार हो रहा है। केवल कथक ही नहीं बल्कि भरतनाट्यम, ओडिसी, कुचिपुड़ी, मणिपुरी जैसी नृत्य विधाओं में भी पारम्परिक बन्दिशों और रचनाओं के अलावा ज्वलंत समसामयिक विषयों और प्रसंगों के अन्तर्निहित नाट्य को रेखांकित करने के लिए शास्त्रीय नृत्य प्रकारों के व्याकरण का इस्तेमाल किया जा रहा है। इसे वैश्विक स्तर पर व्यापक सराहना भी मिल रही है। लेकिन नवाचार और प्रयोगवाद की इन्ही पतली पगडण्डियों से बजरिये सोशल मीडिया, शास्त्रीय नृत्यों के नाम पर कुछ ऐसे दोयम दर्जे के प्रदर्शनों ने भी सिर उठाना शुरू कर दिया है, जिन्हें यक़ीनन शास्त्र सम्मत और प्रशंसा के क़ाबिल नहीं कहा जा सकता।

ख़ासकर इंस्टाग्राम और फ़ेसबुक रीलों और यू ट्यूब पर बे-इन्तहा मशहूर महारथी 'यू ट्यूबरों' की पोस्ट देखेंगे या विभिन्न चैनलों पर नमूदार होते धमाकेदार रियलिटी शोज़ का दीदार करेंगे तो यह बात बहुत जल्दी साफ़ हो जाएगी कि नर्तकों में लोकप्रिय होने की दुर्दमनीय महत्वाकांक्षा कहीं न कहीं शास्त्रीयता की साँसें कम कर रही है। आलम यह है कि हर गली-कूचे में कोई डांस क्लास संचालित हो रही है जहाँ किशोरों, युवाओं के साथ शादी महफ़िलों में रंग ज़माने को आतुर अधेड़ उम्र के दम्पत्तियों को भी ज़ुम्बा-सालसा के साथ कथक-भरतनाट्यम जैसी शैली में 'आइटम नम्बर' सिखाये जा रहे हैं। बॉलिवुड तो ख़ैर हमेशा से ऐसा करता आया है, लेकिन इन्टरनेट की आसान उपलब्धता के बाद से अब इन नम्बर्स पर कमर हिलाने के प्रति और मुखरता में कहें तो छा जाने के प्रति युवाओं में जैसा जोशो जुनून अब दिख रहा है, वैसा पहले नहीं था। अखरने वाली बात यह है कि फ़िल्मी नृत्यों के लिए संरचित चन्द हस्तकों, मुद्राओं और पद विन्यास या

आंगिक अभिनय को ही शास्त्रीय नृत्य मान लिया गया है। तो क्या इन 'शैलियों' के उभरते चलन का हमारे शास्त्रीय नृत्यों के गम्भीर सर्जकों पर भी प्रतिकूल असर पड़ रहा है? क्या सोचते हैं हमारे समय के प्रतिष्ठित नृत्य साधक और कोरियोग्राफ़र इस बारे में? 'रंग संवाद' के लिए इस विषय पर बात की भोपाल, इन्दौर, दिल्ली, हरियाणा और जयपुर की अग्रणी नृत्यांगनाओं ने। बात जब शास्त्रीय नृत्यों में नवाचार पर केन्द्रित हो तो उसमें पुरुष नर्तक की उपस्थिति अनिवार्य-सी है। कथक नृत्य में विश्व के प्रथम नृत्य संगीताचार्य यानी पद्मश्री पुरु दाधीच इस संवाद में शामिल होकर विमर्श को नयी उर्जा देते हैं।

चौरासी की वय में भी इन्दौर निवासी **पं. पुरु दाधीच** की नृत्य साधना जारी है। आपको खैरागढ़ में इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय में 1956 में कथक नृत्य में देश का पहला विभाग स्थापित करने का श्रेय जाता है। लेकिन वे कथक नृत्य की वर्तमान स्थिति से ख़ुश नहीं हैं। वे कहते हैं- आज इस नृत्य में काफ़ी ह्रास हुआ है। हालाँकि दाधीचजी भी प्रयोग के पक्षधर हैं। बताते हैं कि आचार्य अभिनव गुप्त ने प्रयोग के तीन भेद बताए हैं- कथ्यपरक यानी कन्टेंट को लेकर, शैलीगत यानी शैली को लेकर तथा प्रस्तुतिजन्य यानी प्रस्तुति को लेकर (प्रयुज्यते इति प्रयोग)। इस तरह नवाचार करना हर कला के साधक का धर्म है। लेकिन जो मनमाने प्रयोग हो रहे हैं, वो निश्चित ही अच्छे नहीं हैं। नवाचार शास्त्र की सीमा में होने चाहिए। आप किस तरह प्रस्तुत कर रहे हैं, यह महत्वपूर्ण हैं। इसमें परम्परा आ जाती है, सम्प्रदाय (नृत्य का) आ जाता है। इस सन्दर्भ में दाधीचजी भारत रत्न पं. भीमसेन जोशी का उल्लेख करते हैं। एक कार्यक्रम में पं. भीमसेन जोशी का औपचारिक परिचय देते समय उद्घोषक ने कहा कि आप किराना घराने के महान गायक हैं। तत्काल पंडितजी ने मंच से ही दर्शकों को कहा- ''मैंने अवश्य ही किराना घराने से अपने गायन की शुरुआत की थी। पर आज मैं अपना गाता हूँ। इसलिए किराना घराने की नज़र से मुझे मत देखिए।'' प्रयोग करने की अवस्था तो तब आती है, जब आप अपनी विधा में निष्णात हो जाते हैं।

अपनी प्रयोगधर्मी यात्रा की स्मृतियाँ साझा करते हुए वे बताते हैं कि उज्जैन में कालिदास समारोह में मेघदूत, ऋतुसंहार, प्रतिकल्पायन पर मेरी नृत्य प्रस्तुतियाँ यादगार थीं। ख़ासकर 'ऋतुसंहार' का मेरा हिन्दी रूपान्तरण बहुत प्रशंसित हुआ और पं. सूर्य नारायण व्यास, पं. शिवमंगल सिंह सुमन जैसे उद्भट विद्वानों ने इसकी बहुत तारीफ़ की थी। कारण यह था कि उसमें कोई कथानक नहीं था तब भी मैंने उसे बाँधा था। वर्षा वर्णन के एक छन्द की बानगी देखिए- ''जलफुहार के भरे मेघ से, मतवाले हाथी पर बैठा तड़ित पताकाएँ लहराता, गर्जन के नक्कार बजाता, उद्धत राजा-सा दमकीला''...। नृत्य ध्रुपद शैली की बंदिशों में था। ऐसे ही लखनऊ में मेरे काम का रसमय वर्णन प्रसिद्ध उपन्यासकार शिवानी (गौरा पंत शिवानी) ने अपनी पुस्तक में किया है। बहुत-सी बैले रचनाओं के लिए सराहना मिली है। छह दशकों का काम है।

मैं मूलत: जयपुर घराने का नर्तक हूँ। तो कार्यक्रम को रोचक बनाने के लिए मैंने एक प्रस्तुति में ''आप आईए! तुम आओ! तू आ...'' इन सामान्य सम्बोधनों को कथक में प्रस्तुत किया। तो तिहाई लेते ही एक सज्जन झूमते हुए मंच पर आ गये। कारण पूछने पर भोलेपन से बोले- मुझे लगा आप बुला रहे हैं। ऐसी घटनाएँ याद रह जाती हैं।

प्रेरणा श्रीमाली

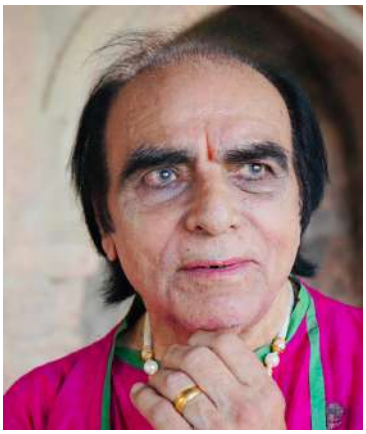

पुरु दाधीच

''मैं क्षमायाचना सहित कहता हूँ कि कथक का वर्तमान परिदृश्य कमोबेश लकीर पीटने वाला ही है।''

लता सिंह मुंशी

अपने समकालीनों के काम पर गुरुजी कहते हैं कि उनके समकालीनों में तो अब कुमुदिनी (लाखिया) बेन के अलावा कोई बचा नहीं। बाक़ी लगभग सभी उनसे युवा हैं। इस प्रवाह में पुरु दाधीच जोड़ते हैं कि पं. बिरजू महाराज से वे सबसे ज्यादा प्रभावित हैं। उनमें जो रचनात्मकता थी, सृजनशीलता थी, समर्पण था, वैसा मुझे तो किसी में आज दिखाई नहीं देता। मैं क्षमायाचना सहित कहता हूँ कि कथक का वर्तमान परिदृश्य कमोबेश लकीर पीटने वाला ही है।

केन्द्रीय संगीत नाटक अकादमी पुरस्कार से सम्मानित जयपुर घराने की मूर्धन्य नृत्यांगना **प्रेरणा श्रीमाली** हाल ही में अपनी पुस्तक 'तत्कार' को लेकर भी चर्चा में हैं। 'कथक में नवाचार की हदबन्दी' विषय पर चर्चा के दौरान उनसे इस पुस्तक पर भी चर्चा हुई। लखनऊ घराना नज़ाकत, भावप्रदर्शन तथा लास्य में अग्रणी है जबकि जयपुर घराने को पदविन्यास (फुटवर्क) के लिए जाना जाता है। प्रेरणा ने इस स्थापना का संज्ञान लेते हुए कहा कि यह एक भ्रान्ति है। आप ही बताइए क्या बिना लास्य के तांडव हो सकता है। जयपुर घराने के अभिनय शैली की पहचान है अभिनय में संयम और अतिरंजना से बचना। यहाँ का नृत्य शृंगारिक कम और भक्ति भाव पूर्ण अधिक है।

प्रेरणा श्रीमाली मध्यप्रदेश में नब्बे के दशक के अपने ओंकारेश्वर के नृत्य प्रदर्शन की याद कर रोमांचित हो उठती हैं– ''वो कार्तिक पूर्णिमा का दिन था। हज़ारों–हज़ारों का जन सैलाब घाट पर उमड़ा था। शंकराचार्य पीठ के सामने बने मंच पर सामगान से कार्यक्रम शुरू होना, नदी में महिलाओं द्वारा दीपदान और मेरी नृत्य प्रस्तुति को तन्मयता से देखना, सब कुछ दिव्य–मनोहारी था। प्रेरणा नृत्य में अमूर्तन में बहुत काम कर रही हैं। महान चित्रकार सैयद हैदर रज़ा के चित्रों पर उन्होंने नृत्य रचनाएँ तैयार की हैं। वे याद करती हैं फ्रांस के प्रोग्राम 'रीचिंग फॉर ईच अदर' को जिसमें उन्होंने रज़ा साहब की पेंटिंग्स और कवि–आलोचक अशोक वाजपेयी की कविताओं पर नृत्य प्रस्तुति दी थी। प्रेरणा श्रीमाली बताती हैं कि नयी कविताओं पर उन्होंने काफ़ी काम किया है। बताती हैं कि गुरुजी पं. कुंदनलाल गंगानी से सीखी बन्दिशों को मैं वैसा ही प्रस्तुत करने की कोशिश करती हूँ, जैसा गुरुजी ने बताया है।

सोशल मीडिया पर नृत्य रीलों के विषय में प्रेरणाजी का मत है कि कोविड काल में सोशल मीडिया ने बहुत साथ दिया। उस दौरान नैराश्य से बचाये रखने में इन रील नृत्यों ने भी हम सबकी मदद की है। पर इसके अतिरेक से मैं सहमत नहीं। लता सिंह मुंशी इस मुद्दे पर मुखर होती हैं– ''लोकप्रियता की होड़ में बहुत कुछ हो रहा है जिसमें से कुछ तो अच्छा भी है पर कुछ बहुत ख़राब है। निश्चित तौर पर शास्त्रीयता पर इसका असर पड़ेगा क्योंकि

सुचित्रा हरमलकर

अल्पना वाजपेयी

विजया शर्मा

राखी दुबे

ऑनलाइन प्लेटफ़ार्म पर बहुत सारे लोग इसे देखते हैं पर सब शास्त्रीयता को नहीं जानते। जैसा देखेंगे उसे ही सही समझेंगे। यह उचित नहीं है। इधर चलन सिनेमा के गीतों पर भी नृत्य करने का हो चला है। फ़िल्मी गानों पर नृत्य करना ग़लत नहीं है। पर यह सब भाव शून्य है। शब्द कुछ, संगीत कुछ और भाव तो नदारद। अल्पना वाजपेयी के अनुसार इन दिनों जो एक-दो मिनट की नृत्य रीलें बन रही हैं, वो ग़लत तो नहीं मानती। एकाध बार ऐसा करने में बुराई नहीं है। पर इसके मोह में ही पड़ जाएँ यह ठीक नहीं। कला और कलाकार, दोनों की गरिमा बचाए रखना ज़रूरी मानती हूँ।

भोपाल की रहवासी अग्रणी भरतनाट्यम नृत्यांगना **लता सिंह मुंशी** का मानना है कि नवाचार तो किसी भी कला में ज़रूरी है। रुका हुआ पानी कुछ समय बाद दूषित होने लगता है, जबकि बहता पानी कंठ और हृदय दोनों की प्यास बुझाता है। लेकिन लताजी अपनी बात साफ़ करती हैं कि हर कलाकार को चाहिए कि वह शास्त्रीयता का जो दायरा या फ्रेम बना हुआ है, उसमें रहकर ही प्रयोग करें। गुरुओं की सिखाई इस मर्यादा का पालन अवश्य करना होगा। यही बात वरिष्ठ कथक नृत्यांगना अल्पना वाजपेयी, राखी जोशी, प्रेरणा श्रीमाली, सुचित्रा हरमलकर और सुश्री विजया शर्मा भी कहती हैं। विजया शर्मा को हाल ही में मध्यप्रदेश का प्रतिष्ठित शिखर सम्मान दिए जाने की घोषणा हुई है। वे कहती हैं- ''नवाचार ऐसा होना चाहिए कि वो कला के मूल सिद्धान्तों और उसकी शास्त्रीय परिधि का अतिक्रमण न करे। नवाचार कला विधा को विस्तार देने वाला होना चाहिए न कि उसके स्वरूप को खंडित करने वाला।'' तो क्या इन दिनों जिस तरह एक-दो साल तक किसी डांस क्लास से चलताऊ ढंग से नृत्य सीखकर और उसमें शारीरिक अंग विक्षेप, चमत्कृति और गिमिक्स का तड़का लगाया जा रहा है, उससे हमारी सनातन नृत्य विधाओं के प्रदूषित होने का ख़तरा बढ़ रहा है? विजयाजी इसे स्पष्ट नकारती हैं। वे कहती हैं- ''शास्त्रीयता को कभी ख़तरा नहीं हो सकता जब तक कि शास्त्रीय परम्पराओं को जानने-समझने और उन्हें अगली पीढ़ी तक सहेज कर ले जाने वाले नृत्य गुरु सक्रिय हैं।'' जयपुर घराने की सुप्रसिद्ध नृत्यांगना और कोरिओग्राफर प्रेरणा श्रीमाली मानती हैं कि शास्त्रीयता कभी नए प्रयोगों से उपज के काम से इंकार नहीं करती। कारण, जब आप उस विधा की परम्पराओं को समझेंगे तभी न उसमें अपनी तरफ से कुछ जोड़ सकेंगे। गुरुजी ने जो सिखा दिया उसे वैसा का वैसा ही करते रहने से केवल लकीर पीटने का अहसास होता है। हाँ, मगर,

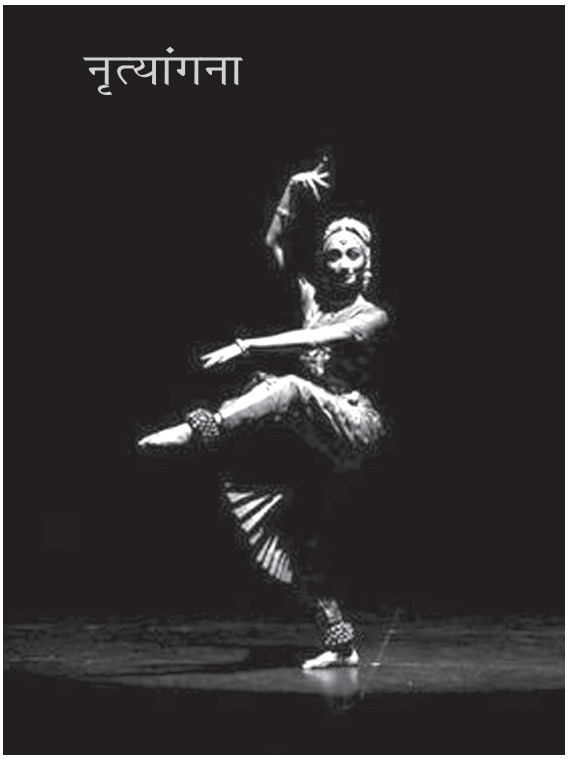

एक पाँव ज़मीन पर
दूसरा अनन्त में
तीन लोक चौदह भुवन
थिरकती है नृत्यांगना

कुन्तल से पायल तक अनन्त झरने
सुर गति लय
अनगिन मुद्राएँ
असंख्य भावबोध
अभिव्यक्तियों की कई-कई मेहराबें
बनाती है नृत्यांगना

एक लम्बी पहाड़-रात को
खोदती है अनथक
श्रम-सी
गहरे अँधेरे के सीने में
शरद के काँस-सी लहराती है
नृत्यांगना।

- हरीश चन्द्र पाण्डेय

कितना जोड़ना है, किस हद तक प्रयोग करना है, इसका तालमेल बैठाना होगा प्रेरणा कहती हैं। यानि परफ़ॉर्मर के भीतर एक तराज़ू या तुला हमेशा रहनी चाहिए जिसके दोनों पलड़ों में एक शास्त्रीय परम्परा का होगा और एक नवोन्मेषी प्रयोगों का। दोनों का पलड़ा जब तक एक समान है, तब तक नवाचार करने में क्या बुराई?

इस बीच सोशल मीडिया पर वाइरल होने वाली नृत्य रील्स की भी बात उठती है। **राखी जोशी** अपना मन्तव्य जोड़ती हैं– ''आजकल युवा वर्ग पूरी तरह अपने आप को इंस्टा, फेसबुक में इतना अधिक डुबा चुका है कि सीखने की लगन ख़त्म हो गई है। वो जल्दी इन सबसे कमाने की सोचने लगा है। एक वक़्त था जब हम सालों सीखते थे। सिर्फ़ सीखने की लगन होती थी और कुछ नहीं। बस गुरुजनों से कुछ पाने की चाह। मगर आज युवा वर्ग पागलपन के दौर में है। वो किसी भी रिश्ते–नाते को भूल चुका है। हर समय बस वीडियो बनाने का चलन। बस, यही शिक्षा रह गई है। कभी–कभी तो लगता है कि अब हम जैसे सीखे हुए लोगों की ज़रूरत कम हो गई है। वही अच्छा कलाकार है जिसके इंस्टाग्राम पर बेशुमार फॉलोअर हों और जिनके वीडिओज़ वाइरल होते रहें।''

राखी मानती हैं कि कथक में नये प्रयोग हो रहे हैं वो ठीक हैं भी और नहीं भी। ठीक इसलिए कि नयी पीढ़ी उसी को देख कर कथक क्षेत्र में आ रही है और छोटी–छोटी जगह भी नृत्य किसी ना किसी रूप में पहुँच रहा है। लेकिन ग़लत इसलिए कि नयी पीढ़ी उसी फ़िल्मी कथक को शुद्ध मान रही है और जब गुरु कथक को शुद्धता से बरतने की बात करते हैं तो विद्यार्थी फ़िल्मी कथक सीखना चाहते हैं। उनका धैर्य भी उतना नहीं बचा। जल्दी मंच पर आमद की चाह बढ़ रही है। पारम्परिक कथक कहीं ना कहीं लुप्त होते जा रहा है! रायगढ़ घराने की नृत्यांगना और चक्रधर नृत्य केन्द्र की गुरु **अल्पना वाजपेयी** कहती हैं कि ऐसा होता ही है कि जब आप अपना काम शुरू करते हैं तो गुरु की सिखाई गई चीज़ों के साथ कुछ हटकर प्रयोग भी करते हो। यही तो एक शिष्य का कर्तव्य भी है कि वो रट्टू तोते की तरह न बने। अपना इनपुट भी जोड़े।

रायगढ़ घराने की ही भोपाल के चक्रधर कथक केन्द्र से सुयोग्य नृत्यांगना–गुरु **सुचित्रा डाकवाले हरमलकर** के अनुसार कलाएँ समाज का दर्पण होती हैं। तो समाज में जो घटित होता है, उसका प्रतिबिम्ब कला प्रदर्शन पर पड़ना स्वाभाविक है। बक़ौल सुचित्रा कथक नृत्य तो वैसे भी लोकधर्मिता का सदा से पक्षधर रहा है। जहाँ तक परम्परा की बात है तो वह भी लगातार परिवर्तनशील है। आज कथक की जो तस्वीर हमें दिखाई देती है, वो पहले के कथक से काफ़ी अलग है। अब वह केवल कथावाचन की शैली नहीं, बल्कि अपने समृद्ध व्याकरण के साथ किसी भी मनोभाव, प्रसंग को अभिव्यक्त करने में पूरी तरह समर्थ है।

सुचित्रा इस प्रवाह में जोड़ती हैं कि हमारी सभी नृत्य विधाएँ यूँ तो एकल प्रयोजन से जुड़ी हैं। मतलब इनमें एकल प्रस्तुति ही अधिकतर हुआ करती थीं। लेकिन अब ज़्यादातर नृत्यों में समूहन पर ज़ोर दिया जाने लगा है। वेशभूषा, मेकअप, ध्वनि प्रभाव, प्रकाश आकल्पन सभी अंगों का नृत्य प्रदर्शन में वैचारिक समावेश किया जा रहा है। यक़ीनन इससे नृत्यों में अभिव्यक्ति की सम्भावनाएँ बढ़ी हैं। कलाकारों की सृजनात्मकता में भी वृद्धि हुई है। मैं इसे सही मानती हूँ। पर बस, सब कुछ शास्त्रीयता के दायरे में रखकर करना चाहिए।

-vivekmridul@gmail.com

नए पंख, नई परवाज़

युवाओं को एक ही खूँटे से बाँधकर अब न रखा जा सकेगा। चित्रकार है तो वह चित्रकारी करता रहे, कवि केवल कविता करे, नर्तक केवल नृत्य से सरोकार रखे तो ऐसा अब नहीं चलेगा। नवाचार लाने के लिए अभिनव प्रयोग करने ही होंगे और इन अभिनव प्रयोगों के अभिनव माध्यम भी तलाशने होंगे। कलाओं को समग्रता से समझने के लिए, समग्रता से कलाओं को समझना होगा।

स्वरांगी साने

कलाओं को समग्रता से समझने के लिए, समग्रता से कलाओं को समझना होगा। यह वाक्य उलझन पैदा कर सकता है। पर हमें समझना होगा कि कलाओं के उत्स को महसूस करने के लिए उनका विलगीकरण न करते हुए उन्हें आपस में समन्वित करना होगा। यह दौर बहुमाध्यमी (मल्टीमीडिया का) है। अर्थात स्क्रीन पर लिखित सामग्री के अतिरिक्त ध्वनि, चित्र और फ़िल्म के प्रदर्शन के माध्यम से मल्टीमीडिया का प्रयोग करते हुए कलाओं को भी प्रस्तुत करना होगा। नए दौर में नए प्रयोग किए बिना कला की परम्परा को युवाओं तक नहीं पहुँचाया जा सकता है। मल्टीमीडिया के दौर के युवाओं के पास अनेक विकल्प भी हैं और उनकी अभिरुचि को सम्पन्न करने के लिए उन्हें एक ही खूँटे से बाँधकर अब न रखा जा सकेगा। चित्रकार है तो वह चित्रकारी करता रहे, कवि केवल कविता करे, नर्तक केवल नृत्य से सरोकार रखे तो ऐसा अब नहीं चलेगा। नवाचार लाने के लिए अभिनव प्रयोग करने होंगे और इन प्रयोगों के अभिनव माध्यम भी तलाशने होंगे।

मीराबाई का 'मेरे तो गिरधर गोपाल' काव्य जब संगीतबद्ध तरीके से सामने आता है तो नर्तक की इच्छा नाचने की हो ही जाती है। कविता को गुनगुनाया नहीं जा सकता लेकिन जब वही कविता गीत बनकर आती है तो आप गुनगुना उठते हैं। आकाशवाणी पर विविध भारती का जो एक दौर था, उसी दौर ने पुरानी फ़िल्मों के गीतों को अजर-अमर बनाया क्योंकि उन्हें आसानी से गुनगुनाया जा सकता था। अब तमाम विधाओं को समन्वित करने का दौर है। अब केवल कविता को संगीत देकर बात नहीं बन सकती, केवल पढ़कर-सुनकर युवाओं को नहीं लुभाया जा सकता उसके लिए मल्टीमीडिया का सहारा लेना ही होगा। रामधारी सिंह दिनकर की 'रश्मिरथी' की 'कृष्ण की चेतावनी' पहले केवल हिन्दी साहित्य के छात्रों तक ही सीमित थी लेकिन अब जिस तरह से वाचिक परम्परा के साथ व्हाट्स ऐप के अग्रेषित संदेशों में उसके वीडियो सामने आने लगे। उसे पसन्द करने वालों का दायरा बढ़ गया। प्रभावपूर्ण तरीके से किया गया वाचन सुनने वालों के भीतर तक उतरता है। मेरी एक चर्चित कविता है 'वह हँसती बहुत है'। यह कविता जब अपने चरम वितान पर होती है तो शीर्षक से एकदम अलग ही अर्थ दे जाती है। महाराष्ट्र राज्य हिन्दी साहित्य अकादमी, मुम्बई द्वारा स्वीकृत अनुदान

से प्रकाशित काव्य संग्रह ''वह हँसती बहुत है'' की टाइटल कविता है। लोग उसे पढ़ना पसन्द करते हैं, आप इसे सिग्नेचर कविता कह सकते हैं लेकिन जब कोई उसका वाचन करता है तो कविता नए अर्थों में खुलती है। वाचन और वह भी शुद्ध, सटीक वाचन किसी भी कविता को बहुआयामी बना देता है। बीते मित्रता दिवस पर मित्र अमित जोशी ने इस कविता का पाठ किया था और अन्य मित्र भुवन सरवटे ने उसे ग्राफ़िक्स और संगीत से सजाया। धीमा संगीत और कविता की हर पंक्ति के साथ सोनाली सरवटे की वारली की परिकल्पना ने उस कविता को अलग ही शीर्ष पर पहुँचा दिया कि अब तक हज़ारों लोगों द्वारा उसे देखा-सुना जा चुका है। ये हज़ारों लोग वे नहीं हैं, जो साहित्यिक पत्रिकाएँ पढ़ते हैं। साहित्यिक पत्रिकाओं तक पहुँचने वाले लोग उतने ही होंगे जिनकी अभिरुचि वैसी परिष्कृत होगी कि वे उसी मंशा से साहित्यिक पत्रिकाओं तक पहुँचते हैं। जिनकी वैसी साहित्यिक अभिरुचि नहीं, उन तक साहित्य को पहुँचाने के लिए आपको ही उन तक पहुँचना होगा। वे तो यू-ट्यूब पर स्क्रोल कर रहे हैं, ग्यारहवें सेकंड में अगले चैनल पर पहुँच रहे हैं। केवल ग्यारह सेकंड में युवाओं को साहित्य-कला-कविता से जोड़ने के लिए उसे उसी रोचक शैली में रखना होगा। रोचक शैली में रखने से कई बार यह अर्थ लगा लिया जाता है कि वह कम गम्भीर या स्तरहीन होगा। लेकिन रामधारी सिंह दिनकर की 'उर्वशी' का ही उदाहरण ले लीजिए जब वह वाचन और संगीत के साथ मंच पर प्रस्तुत होती थी तो अधिक लोगों तक अधिक सहजता से पहुँचती थी।

केदारनाथ सिंह : धूप में घोड़े पर बहस : Rajat Kapoor in Hindi Studio with Manish Gupta

Hindi Kavita
294K subscribers
Subscribe
1K
Share
Clip

ग्यारह सेकंड में युवाओं को साहित्य-कला-कविता से जोड़ने के लिए उसे उसी रोचक शैली में रखना होगा। रोचक शैली में रखने से कई बार यह अर्थ लगा लिया जाता है कि वह कम गम्भीर या स्तरहीन होगा। लेकिन रामधारी सिंह दिनकर की 'उर्वशी' का ही उदाहरण ले लीजिए जब वह वाचन और संगीत के साथ मंच पर प्रस्तुत होती थी तो अधिक लोगों तक अधिक सहजता से पहुँचती थी।

हम तीन मित्रों, पुणे से मैं स्वरांगी साने, बेंगलुरु से भुवन सरवटे और कैलिफ़ोर्निया से अमित जोशी का यू-ट्यूब चैनल 'ए मैलोडियस लीरिकल जर्नी' कविताओं को इसी तरह विभिन्न रूपकों में बाँधकर प्रस्तुत करने का प्रयास है। देश के जाने-माने चित्रकार पंकज दीक्षित ने अपनी इच्छा से मेरी कई कविताओं को पोस्टर के रूप में संजोया, हमने उसे मध्यम संगीत से सजाकर चैनल पर रखा, लोगों को यह प्रयोग बहुत पसन्द आया। नृत्य आधारित एक कविता पर उर्वी गोरे का कथक भी प्रस्तुत हुआ जिसे आभा निवसरकर ने पढ़ा। तनवीर फ़ारूक़ी के छायाचित्र उसके कलात्मक पक्ष को उभार रहे थे। जिनकी किताब का ब्लर्ब गुलज़ार ने लिखा हो ऐसे मुम्बई के अशोक बिंदल ने अपने छायाचित्रों से हमारे 'चाँद' गीत को सजाया। 'चाँद' गीत तो नए प्रयोग के साथ था मूल हिन्दी कविता का नवभारत टाइम्स के सम्पादक भुवेंद्र त्यागी ने अंग्रेज़ी में भावानुवाद किया, अंग्रेज़ी भाषा के लेखक सायरस वेसुला ने गिटार के स्ट्रोक्स दिए। बाक़ायदा जयपुर के ग़ज़लकार नीरज गोस्वामी को उस्ताद बना उनसे ग़ज़ल लिखने के गुर सीखे और लिखा। तो उस पर कोल्हापुर की रंगमंच अदाकारा ज्योति भावे से फ़ीचरिंग करवाई गई। गीत 'सराबोर' में तबला (शिवानंद वैरागकर), सितार (स्मिता वाजपेयी) के साथ देश के विभिन्न शहरों की सात महिला चित्रकारों ने अपने चित्रों से भी सहयोग दिया। एक अन्य गीत में पखावज वादक अविनाश पवार ने संगत की। इससे एक क़दम और आगे बढ़ते हुए अगला गीत 'मन' था जिसका मुम्बई के दीपक सूर्यवंशी

क्या आप सोच सकते हैं कि कोई मित्र तीस सालों तक मिले न हों और अचानक मिलने पर एक-दूसरे से इस क़दर जुड़ जाए! कक्षा चौथी-पाँचवीं से सातवीं-आठवीं तक हम सहपाठी थे। लेकिन उसके बाद कोई मुलाक़ात नहीं थी। यह सन् अस्सी-नब्बे की बात है। सोशल मीडिया तो दूर तब टेलीफ़ोन तक बहुत कम घरों में थे। तीस सालों बाद सम्पर्क हुआ और कोविड के दौरान अनचाही ख़ामोशियाँ एक सुन्दर सम्वाद में बदल गई। 4 नवम्बर 2020 को 'बातें' अपलोड हो गया।

की टीम के युवा कलाकारों ने बाक़ायदा फ़िल्मांकन किया, इसी टीम ने दूसरा गीत इस तरह प्रस्तुत किया जिसमें कुछ शब्द अंग्रेज़ी के भी थे क्योंकि आज के युवाओं की यह भाषा है और इसे नकारा नहीं जा सकता। मदर्स डे की कविता का पाठ माँ, हिन्दी-मराठी साहित्य की जानी-मानी हस्ताक्षर अलकनंदा साने ने ही किया। एक अलग प्रयोग बाल मनोविज्ञान पर 'मुनिया की दुनिया-एमकेडी' है, जिसे बाल कलाकार रेशावी पर फ़िल्माया गया। केवल वाद्यों को लेकर एक अभिनव प्रयोग 'द रिद्म' और सामाजिक सरोकार को ध्यान में रखते हुए ओल्ड एज होम- 'ज़ाणीव' को भी चैनल पर देखा जा सकता है। इस हिन्दी दिवस पर वर्णमाला शृंखला अपलोड की, जिसमें क्रमशः 'अ से श्र' तक हर वर्ण होंगे, उस वर्ण से जुड़े सैकड़ों शब्द किसी रूपक में बँधकर पहुँचेंगे ताकि देखने-सुनने वाले एक ही स्थान पर रोचक शैली में उस एक वर्ण से बनने वाले सैकड़ों शब्दों, मुहावरों को जान पाएँ। इस शृंखला को मल्टीमीडिया ऑनलाइन सेल्फ़ लर्निंग एड्यूटेनमेंट- learnhindiedutainment.in की वेबसाइट पर भी देखा जा सकता है। मंचित होने वाली कलाओं को आपस में जोड़ते हुए समग्रता एवं संपूर्णता से प्रस्तुत करने पर उसे निश्चय ही सराहा गया। चैनल इतना हिट हुआ कि यू ट्यूब चैनल ने अपने लिंक का नाम स्वयं देने का अधिकार दिया तो ए मैलोडियस लिरिकल जर्नी के साथ जुड़ गया 'अभिस्वर', https://youtube.com/c/AMelodiousLyricalJourneyABHISWAR ऋग्वेद की ऋचा में अभिस्वर का अर्थ इन्द्र की स्तुतियों के अर्थों को यथावत् स्वीकार करने/कराने और गाने वाले... यह चैनल से इस अर्थ में भी एकरूप है कि तीनों के नाम इसमें आ जाते हैं। अब चैनल का हमारा अपना यू-ट्यूब हैंडल भी है AMLJourney यह इसकी खोज को और आसान बना देता है। मतलब अभिव्यक्ति को नए दौर के नए तरीक़ों के साथ प्रस्तुत करने से ही बात बनेगी। नई पीढ़ी केवल सुनकर नहीं, उन कविताओं पर तबले और नृत्य से झंकृत होकर उसे देखकर महसूस करना चाहती है।

इस दौर में तो यह नितान्त आवश्यक है कि मानवीय सम्वेदनाओं को गहरे स्तर तक जगाया जाए। क्या कारण है कि कोई आफ़ताब सामने आता है। उसे किसी धर्म-सम्प्रदाय से जोड़कर मत देखिए। कोई भी करता तो वह उतना ही घृणित और अक्षम्य होता। किसी से प्यार करते हैं तो उसके प्रति इतने क्रूर कैसे हो सकते हैं? पुरानी फ़िल्मों में देखिए स्पर्श भी नहीं होता था और प्रेम की इन्तिहा हो जाती थी। आज सब हो जाता है पर प्रेम नहीं रहता। हमारी सम्वेदनशीलताएँ खोती जा रही हैं। लोगों की सम्वेदनाओं को जगाना होगा। पहले कोई चींटी भी मसल देता था तो हम उसे महापाप की तरह देखते थे। हिंसा हमें स्वीकार्य नहीं थी, अब हम हिंसा के विरोध में हिंसा को रख रहे हैं। हिंसक आफ़ताब के उदाहरणों के सामने आईटी क्षेत्र के सृजनशील भुवन सरवटे और अमित जोशी के उदाहरण उसी सशक्तता के साथ देना इसलिए ज़्यादा ज़रूरी है कि अपनी बाल सखा को आगे बढ़ाने के लिए वे नए माध्यमों को तलाशने के हिमायती हैं। आप सोच सकते हैं कि कोई मित्र तीस सालों तक मिले न हों और अचानक मिलने पर एक-दूसरे से इस क़दर जुड़ जाए तो उसके पीछे

आपसी सहृदयता ही होती है। कक्षा चौथी-पाँचवीं से सातवीं-आठवीं तक के हम सहपाठी थे। लेकिन उसके बाद कोई मुलाक़ात नहीं थी। यह सन् अस्सी-नब्बे की बात है, तब सोशल मीडिया तो दूर टेलीफ़ोन तक बहुत कम घरों में थे। तीस सालों बाद सम्पर्क हुआ और 4 नवम्बर 2020 को 'बातें' अपलोड हो गया। पहला ही गीत हिट हो गया, लोगों को उसकी प्रस्तुति, धुन बहुत पसन्द आई। इसका पियानो कवर भी लेकर आए, पियानो पर भुवन की अँगुलियों ने कमाल दिखाया। लॉक डाउन लगते ही जब सब घरों में कैद हो गए थे तब कम्प्यूटर विंडोज़ के पटल खुले और लोग आपस में मिले, वैसे हम भूले-बिसरे मित्र भी एक-दूसरे से टकरा गए। यह जून 2020 की बात थी, आपस में पूछताछ हुई कौन-क्या करता है और बातों ही बातों में अक्टूबर 2020 में पहला गीत बनकर तैयार हो गया। भुवन ने पूछा कि 'क्या मैं अब भी लिखती हूँ, जैसा स्कूली दिनों में लिखा करती थी'। जवाब 'हाँ' था। स्कूल में भुवन गायक के रूप में जाना जाता था, जिसका संगीत देने का मानस बनने लगा था। दोनों ने तय किया कि कुछ अलग किया जाए और पहला गीत 'बातें'...आ गया, अब उसका क्या किया जाए तो अमित ने कहा उसे यू-ट्यूब पर अपलोड किया जाए। इस तरह यह और अन्य गीत यू-ट्यूब पर आए। फिर तो कविताओं का वाचन भी हुआ जिसे न्यूयॉर्क से अनूप भार्गव, गुरुग्राम से विजय कुमार मल्होत्रा, नई दिल्ली से शकील अख़्तर, रूस से प्रगति टिपणीस, मुम्बई से कविता गुप्ता, रूना गुप्ते सहित कई लोगों ने पढ़ा। कुछ कविताओं को ग्राफ़िक्स से सजाया गया, कुछ को पीपीटी के ज़रिए, कुछ पर वीडियो बने।

बहुआयामी तरीक़े से बहु माध्यम (मल्टीमीडिया) से कविताओं की कलात्मकता को अन्य विधाओं के साथ जोड़कर रखने का यह प्रयोग जिसने भी देखा, उसने इसका जौहर माना और इसका सारा श्रेय भुवन और अमित को जाता है, जो स्वयं कुछ लिखते नहीं लेकिन कला का आस्वाद लेना जानते हैं। सही को सही कहना और ग़लत को ग़लत कहना जानते हैं। उनकी आलोचनात्मक प्रतिक्रियाओं से छनकर, मल्टीमीडिया के ज़रिए जब कभी कोई कविता, कभी कोई गीत, कभी कोई गद्य, कभी संगीत अपलोड होता है तो वह क्यों न पसन्द किया जाएगा। नई पीढ़ी तक कविता के कथ्य को पहुँचाने का यह नया रास्ता है जिसे वे अपनी स्क्रीन पर देखते हैं और 'लिरिक्स' को 'मैलोडी' में ढलकर 'अ जर्नी' की यात्रा में बदल जाने को पसन्द करते हैं।

-swaraangisane@gmail.com

भारत के लोक और जनजातीय संगीत, राग-रागिनियों में बन्धे शास्त्रीय संगीत और पश्चिमी संगीत की कुछ धुनों से प्रेरित होकर गुरुदेव ने रवीन्द्र संगीत का ताना-बाना तैयार किया। यही वजह है कि 'मास' और 'क्लास' की कोटियों से निकलकर उनकी यह संगीत शैली पूरी मनुष्यता को पुकारने की ताक़त रखती है।

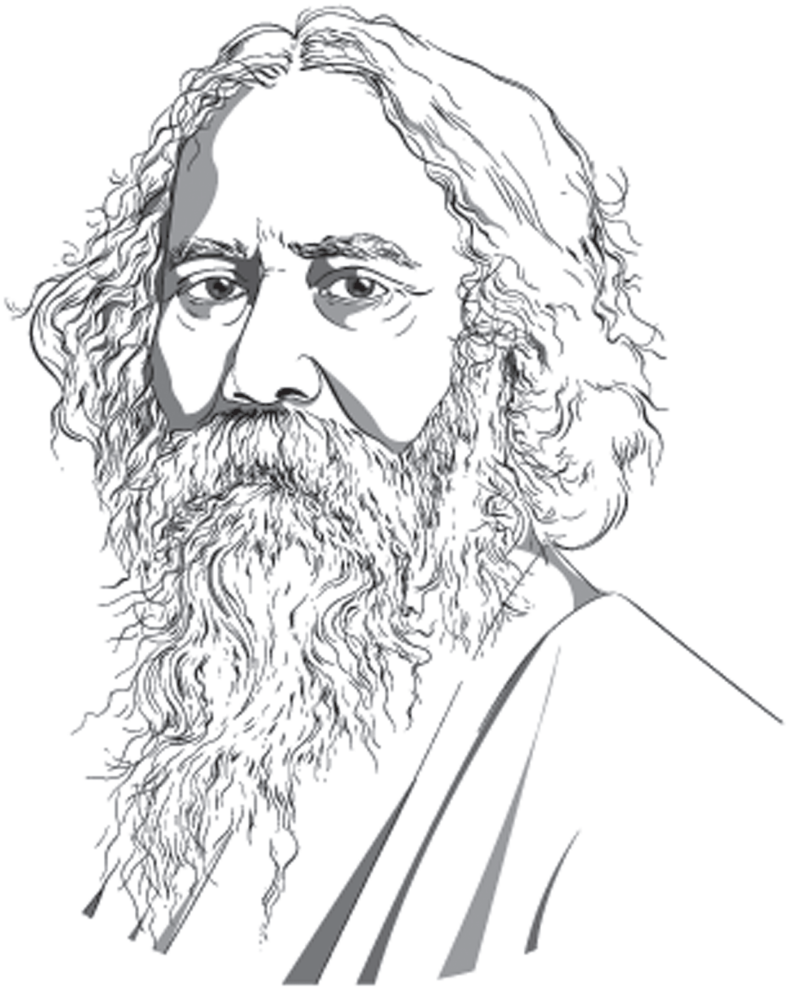

अनन्त में गूँजता गान

एकला चलो रे.... आमार शोनार बांग्ला... तुमी केमोन कोरे गान कोरो हे गुनी..... आमार पौरानो जाहा चाय.... जाने कितनी ही दफ़ा बांग्ला की शीरी ज़ुबाँ में ढले इन गीतों की सुरमई छुअन ने रूह को महकाया। लेकिन इन गीतों को रचने और उन्हें मीठी धुनों में पिरोने वाले गुरूदेव रबीन्द्रनाथ टैगोर के सांस्कृतिक मानस को बहुत गहरे में समझने का संयोग न बना। इधर एक सभा में सुर पराग, जबलपुर के कलाकारों ने जब रबीन्द्र संगीत का वृन्दगान किया तो टैगोर की सृजनात्मक मेधा के प्रति अलग-सा कौतूहल जागा।

गुरुदेव का कहा बरबस याद आया- ''मैं जब भी गीत लिखता हूँ, राग-रागिनियों का रस-भाव भरा संगीत उनमें चला ही आता है।'' ....यहीं से रबीन्द्र संगीत का विन्यास खुलता है। ध्वनि और शब्द की परस्परता में प्रेम, करुणा, सौहार्द, समरसता और सम्वेदना के मानवीय मूल्यों की गहरी उपस्थिति हमें दिखाई देती है। यही वजह है कि कोई कितना भी बेजान और अकेला क्यों न हो रबीन्द्र संगीत उसे जाने कितने ही इन्द्रधनुषी लोकों की सैर करा देता है। दरअसल, रबीन्द्र संगीत में गुरुदेव भारत की उस बुनियादी ख़ासियत और ताक़त को रचते हैं जहाँ 'विविधता में एकता' अनायास चली आती है। रबीन्द्र संगीत का रसायन भी संगीत की अनेक धाराओं से मिलकर तैयार हुआ है- गहरा, विराट, मधुर और धमनियों में उतर जाता-सा।

यह रबीन्द्रनाथ की प्रतिभा के बूते की ही बात थी कि उन्होंने जितने भी गीत लिखे, लगभग सभी की धुन भी उन्होंने बनाई। इसके उलट कई बार ऐसा भी हुआ कि उन्हें कोई धुन सूझी तो तुरन्त उन्होंने उसके लिए गीत लिख डाला। शुरू के लगभग सभी गीतों की धुन उन्होंने विशुद्ध रूप से भारतीय शास्त्रीय रागों के आधार पर तैयार की थी और कमाल की हैं। उन्होंने इन रचनाओं के द्वारा उस समय के प्रचलित संगीत की एकरूपता को तोड़ते हुए संगीत का सर्वथा नया मुहावरा गढ़ा था।

जयति चक्रवर्ती

1913 में जब टैगोर की बांग्ला कविता कृति 'गीतांजलि' को विश्व के सर्वोच्च नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया, तो टैगोर के सांस्कृतिक व्यक्तित्व को दुनिया ने समग्रता में देखना शुरू किया। उनके विराट में रबीन्द्र संगीत का आरोह-अवरोह अनूठी पवित्रता लिए आनन्द का लोक रच रहा था। कोई गीत सात सुरों की हमजोली में इतना अलग तरह से जाग उठता है कि उसमें हम अपनी ही आत्मा का उजाला खोज सकते हैं। गुरुदेव रबीन्द्र संगीत में इसी आत्मज्योति की तलाश करते दिखाई देते हैं। प्रसंगवश यह जानना भला लगता है कि भारत का राष्ट्रगान- ''जन गण मन अधिनायक जय हे'' और बांग्लादेश का राष्ट्रगान ''आमार शोनार बांग्ला'' टैगोर के ही गीत-संगीत की महान स्वीकृति हैं।

भारत के लोक और जनजातीय संगीत, राग-रागिनियों में बन्धे शास्त्रीय संगीत और पश्चिमी संगीत की कुछ धुनों से प्रेरित होकर गुरुदेव ने रबीन्द्र संगीत का ताना-बाना तैयार किया। यही वजह है कि 'मास' और 'क्लास' की कोटियों से निकलकर उनकी यह संगीत शैली पूरी मनुष्यता को पुकारने की ताक़त रखती है। स्वाधीनता और अमृत महोत्सव के निमित्त भारत की प्रबुद्धता को जानने की अनेक दिशाएँ खुली हैं। हम कितनी तरह से उस सम्पदा को याद करते हैं जिन्हें हमारे ही देश की तपस्वी विभूतियों ने अपने समय में गढ़ा और आने वाली पीढ़ियों को सौंप दिया। इस पृष्ठभूमि में गुरुदेव रबीन्द्रनाथ टैगोर अनेक रूप-छवियों से मंडित संस्कृति पुरुष की तरह दिखाई देते हैं।

कहते हैं- अनुभूति की तरंगें तो हर चित्त में उठ सकती हैं पर अभिव्यक्ति के तीर्थ हर किसी को नसीब नहीं होते। टैगोर का रबीन्द्र संगीत भारत ही नहीं, संसार भर की आत्मा में डूबती-उतराती वो लहरे हैं जो अपने प्रवाह में तीर्थ सा मोक्ष देती हैं।

गुरुदेव के रबीन्द्र संगीत से रंगमंच और सिनेमा भी अछूता नहीं रहा। सत्यजीत रे, आर.डी. बर्मन, ऋतुपर्ण घोष और मृणाल सेन से लेकर पंडित रविशंकर ने अनेक दृश्यों के ध्वनि प्रभाव तथा गीतों में रबीन्द्र संगीत का इस्तेमाल किया है। कवि-अनुवादक और टैगोर साहित्य के शोधार्थी उत्पल बैनर्जी के अनुसार- यह रबीन्द्रनाथ की प्रतिभा के बूते की ही बात थी कि उन्होंने जितने भी गीत लिखे, लगभग सभी की धुन भी उन्होंने बनाईं। इसके उलट कई बार ऐसा भी हुआ कि उन्हें कोई धुन सूझी तो तुरन्त उन्होंने उसके लिए गीत लिख डाला। शुरू के लगभग सभी गीतों की धुन उन्होंने विशुद्ध रूप से भारतीय शास्त्रीय रागों के आधार पर तैयार की थी और कमाल की हैं। उन्होंने इन रचनाओं के द्वारा उस समय के प्रचलित संगीत की एकरूपता को तोड़ते हुए संगीत का सर्वथा नया मुहावरा गढ़ा था। 'संगीत की मुक्ति' निबन्ध में उन्होंने लिखा है- 'मैं जिस भी तरह से गीतों की रचना क्यों न करूँ, राग-रागिनियों का रस उसमें मिला ही रहेगा।' यानी उनकी स्पष्ट मान्यता थी कि राग-रागिनियों की उपेक्षा कर अच्छे गीत नहीं लिखे जा सकते। अपने जबर्दस्त संगीतबोध और अनोखी कल्पनाशक्ति की बदौलत उन्होंने ऐसी

धुनें बनाईं जो हमें विस्मय से भर देती हैं। उनके द्वारा किए गए रागों और सुरों के मिश्रण में कुछ ऐसी मौलिकता और विशिष्टता थी कि उनके गीत इतने मर्मस्पर्शी बन सके हैं। उनके गीतों में मींड के प्रयोग की बहुलता दिखाई देती है, जो एक ख़ास तरह की कर्णप्रियता की सृष्टि करती है। गीतों में छन्दों का प्रयोग भी एक उल्लेखनीय वस्तु है। हालाँकि उन्होंने छन्द के चलन को कठोर नियमों के बन्धनों में नहीं बाँधा और यही कारण है कि उनके रचे गीतों की प्रकृति को किसी तरह की क्षति नहीं पहुँची है। धुन बनाते समय भी उन्होंने बहुत सावधानी से गीत के भावों की रक्षा की है। यूरोप यात्रा के दौरान तथा बाद की कई धुनों पर पश्चिमी संगीत का असर दिखाई देता है, लेकिन वे धुनें हमारी संगीत परम्परा का भावबोध लेकर ही रूपाकार ग्रहण करती हैं। बड़ी उम्र में उनका यह भावबोध और भी परिपक्व होता दिखता है। इस समय के गीतों में स्वरों और शब्दों के संयोजन में जो विविधता और प्रयोगशीलता दिखाई देती है, वह रबीन्द्रनाथ की विलक्षण प्रतिभा के उत्कर्ष का निदर्शन कराती हैं। वे गीतों को तमाम नियमों के बन्धनों से मुक्त कर हृदय और प्राणों के साथ जोड़ देना चाहते थे और इसी सुसंगति में उन्हें संगीत की मुक्ति दिखाई दी थी। इसका अर्थ था– स्वाधीनता। इसी स्वाधीनता ने उनके गीतों को नया जन्म दिया था। उन जैसा कम्पोज़र पूरे विश्व में कोई नहीं दिखाई देता। उनकी थोड़ी–बहुत तुलना बीथोवन के साथ की जाती है, लेकिन रबीन्द्रनाथ हमें इसमें अनोखे ही मालूम होते हैं। रबीन्द्रनाथ के संगीत में गीतों की सुसंगति ने अमूर्त को मूर्त किया है। जीवन की विविध रूपच्छटाओं की बहुआयामी अभिव्यक्ति ने उनके संगीत को ऊँचाई प्रदान की है। संगीत का ऐसा मानवीयकरण हम विश्व में कहीं और नहीं देखते। साहित्य और संगीत के इस अनोखे मिलन ने रबीन्द्रनाथ को पूरी दुनिया में सबसे अलग स्थान प्रदान किया है।

दुर्भाग्य से रवीन्द्र संगीत के प्रति नयी पीढ़ी का रुझान जगाने और उसके कलात्मक अध्यात्म को ठीक से प्रचारित करने की दिशा में गम्भीर कोशिशें दिखाई नहीं देतीं। टैगोर की सरज़मीं बंगाल में यह प्रभाव प्रौढ़ पीढ़ी में तो प्रकट है लेकिन नौनिहाल और नौजवान नस्ल का बहुत चाव वहाँ भी नदारद है। फिर अन्य राज्यों से क्या अपेक्षा की जा सकती है। कभी छिटपुट रस्मी आयोजनों में रबीन्द्र संगीत की धुनें गूँजती हैं तो राग–अनुराग फिर से उमड़ने लगता है।

अमृत महोत्सव में रबीन्द्र संगीत के संरक्षण के प्रति स्थायी भाव जागे, यही सुरमई कामना है।

अवधेश बाजपेयी

हर लोक गीत एक कहानी है

लोक गायिका **मालिनी अवस्थी** से अनुलता राज नायर की मुलाक़ात

अवध की मिट्टी-पानी और हवाओं की कोख से निकलकर जीवन के आँसुओं और मुस्कानों को ज़ुबान देने वाले सैकड़ों गीत जब एक स्त्री के कंठ का गहना बन जाते हैं तो आशंकाओं का अँधेरा काफ़ूर हो जाता है। विरासत अपने भविष्य पर मुस्कुरा उठती है कि उसने अपना सच्चा उत्तराधिकारी हासिल कर लिया है। मालिनी अवस्थी एक ऐसी ही सुरीली आश्वस्ति के साथ अपनी धरती के छन्द गुनगुना रही हैं। बोली की मिठास, मन के अहसास, धुनों का सरल-तरल मिज़ाज जब लय-ताल के सुन्दर ताने-बाने के बीच मालिनी के अन्तरंग में उतरता है तो वह हमारी तहज़ीब की आवाज़ बन जाती है। आवाज़ का यह असर अब सरहदों के फ़ासले पूरता देश-दुनिया में फैल रहा है। शोहरत और ईनाम अब मालिनी की कलाकार शख़्सियत के साथ हो लिए हैं।

गायिकी में निखार और व्यावहारिक पहलुओं के मार्गदर्शन के लिए मूर्धन्य गायिका गिरिजादेवी की शागिर्द बनीं। तालीम और अभ्यास की पूँजी लेकर मालिनी ने जब सार्वजनिक सभाओं में दस्तक दी तो उनकी मीठी-मदिर और ठेठ मिट्टी की सौंधी गंध से महकती गायिकी ने हज़ारों श्रोताओं को उनका मुरीद बना लिया। भारत के अनेक लोक उत्सवों और कुंभ-मेलों के आमंत्रण मिले। एन.डी.टी.सी इमेजिन रियलिटी शो 'जूनून' के ज़रिए मालिनी जी की गायिकी का ठेठ पारम्परिक अन्दाज़ सरहद पार के मुल्कों को भी रास आया। भोपाल के सांस्कृतिक परिसरों में मालिनी यूँ तो अपनी सौंधी गमक लिए कई दफ़ा पेश आती रही हैं, लेकिन 'विश्वरंग' की आवाज़ को विस्तार देती पुस्तक यात्राओं का कारवाँ जिस मुक़ाम पर जाकर ठहरा वहाँ वे अपने कंठ में पुरखों से मिली विरासत की अनुगूँजों को थामे श्रोताओं के रूबरू थीं। मालिनी की यह आमद उनसे एक अलग क़िस्म की मुलाक़ात का संजोग भी बनीं। - **विनय उपाध्याय**

अनुलता: उपलब्धियों के उजाले में मालिनी अवस्थी की आज की तस्वीर जो हमें दिखाई देती है, उसका बीता कल क्या कहता है?

मालिनी अवस्थी: असल में आज-कल जो भी दिखता है न, उसके पीछे बहुत सारे फ़ैक्टर्स होते हैं। आपकी पढ़ाई लिखाई, आपके इंटरेस्ट, सब मिलकर मुकम्मल एक किरदार बनाते हैं, एक व्यक्तित्व को बनाते हैं। चूँकि अभिव्यक्ति संगीत के ज़रिए है इसीलिए मैं जो गाती हूँ, फ़ोक ट्रेडीशंस है। वो इतिहास है। पहले तो हिस्ट्री के बारे में ये बताऊँ कि मेरे पिता डॉक्टर थे लेकिन वो इतिहास को जुनून की तरह पढ़ते थे, सीखते थे। वो रिसर्च में जाते तो बड़े हिस्टोरीयन होते शायद।

बचपन से हमें इतिहास की जानकारियाँ मिलती रहीं। हम अपने ननिहाल कन्नौज जाते थे। तो ननिहाल का मतलब वही है ना, दही जलेबी सवेरे उठ के, वही लाड़-प्यार, नाना नानी परिवार सब कुछ। लेकिन पापा सुबह छह बजे सारे बच्चों को टीले पर ले जाते थे। कन्नौज इतनी सभ्यताओं की नगरी रही है, हर्ष से लेकर पृथ्वीराज चौहान तक। लोग बताते थे कि यहाँ सन् 60 तक, सिक्के, पुरानी मूर्तियाँ खुदाई में मिलती रहीं। वो हमेशा कहते थे कि इसकी खुदाई होनी चाहिए। इसी तरह वो सारे म्यूज़ियम ले जाते थे वो हम लोगों को। फ्रीडम मूवमेंट या जियोपॉलिटिक्स की जो थोड़ी बहुत जानकारी है वो घर में ही मिली। इसमें एक स्वाभाविक रूप से दिलचस्पी इतिहास में रही।

मेरा 12वीं में हिस्ट्री में डिस्टिंगक्शन था। मैंने ठान लिया था कि साइन्स नहीं करना है। पर क्या करना है ये उस समय पता नहीं था। जो सोचने-विचारने की शक्ति थी वो संगीत में चली जाती थी। मैं ये नहीं सोच पाती जैसे लोगों का होता है, ये करूँगी तो ये बन जाऊँगी, ये करूँगी तो ऐसा बन जाऊँगी। हमने हिस्ट्री, पॉलिटिकल साइन्स और संस्कृत लिया था। सबने संस्कृत में ग्रेजुएशन करने को मना किया था। मुझे आर्कियोलोजी और पुरातन इतिहास में बहुत इंटरेस्ट था। सबने कहा एनसिएंट हिस्ट्री लेनी चाहिए उसमें बहुत संस्कृत है। हमने कहा नहीं, मॉडर्न और ट्रेडीशनल का मिक्स हूँ मैं। संस्कृत ले ली, उसमें भारत जान लूँगी जितना जानना है, लेकिन इतिहास आज का पढ़ूँगी। हर व्यक्ति को इतिहास पढ़ना चाहिए, उससे अपने को, अपने देश को ज़्यादा अच्छे से समझ पाएँगे। मुझे लगता है कि मैं जो कर रही हूँ, करना चाहती हूँ उसमें उस शिक्षा का भी बहुत बड़ा हाथ है। जैसे संस्कृत था। भले ही मैं लोकगीत गाती हूँ, लोकगीतों से अभिव्यक्ति है, लोक और शास्त्र यहीं पर मेरे लिए एक हो जाते हैं। भारत को देखने की दृष्टि दोनों में एक ही है। लोकगीतों में जो संसार समाज का दिखता है वही कालिदास ने, भास ने, भवभूति ने बताया है। वो जो गौरव दिखता है भारत का, उसकी निकासी और मैं किसी तरह से नहीं कर सकती। जैसा मैंने देखा है, जैसा मैंने पढ़ा है, जैसा मैं विश्वास करती हूँ, उसकी तो सबसे अच्छी गवाही लोकगीत देते हैं। वो तो माना स्कॉलर ने लिखा था लेकिन ये तो आम आदमी ने लिखा है। लेकिन जो आम आदमी ने लिखा है वो भी कैसे गौरवशाली भारत के एक समदर्शी समाज का ज़िक्र कर रहा है। तो वो पढ़ाई है। नहीं करती वो पढ़ाई तो नहीं जान पाती। बाबूजी विद्यानिवास कहते थे कि बड़ा अभागा है वो आदमी जिसने संस्कृत नहीं पढ़ी। उसे पता ही नहीं कि उसे क्या नहीं मालूम। याने पढ़ाई लिखाई ने मेरा काम आसान किया। मैंने डॉक्टरेट किया, अब 5 साल हो गए मैं बीएचयू में पढ़ाती हूँ।

अप्पाजी ने पहली बार मिलने पर ठुमरी सुनाने कहा। मैंने झिझक के, डर के मैंने सुनाया- 'सैयाँ बिना घर सूना'...। उन्होंने सुना फिर बोलीं- ''अच्छे गुरुओं से सीखा है, लेकिन ये जो पूरब अंग की गायकी है ना, उसमें जो ख़ासियत है, वो बनारसी ही गा सकता है। और ये बैठाने के लिए तुम्हें पिछला भूलना होगा। क्यूँकि इसमें अलग ठहराव है, गम्भीरता है, चैन और सुकून है। सब पुराना सीखा बैठ गया है भीतर'' मैंने अप्पाजी से कहा कि आप बस मान लीजिए, हमको कुछ नहीं आता। इस बीच हमने कई-कई ऑफ़र ठुकराए।

गुरु माँ विदुषी गिरिजा देवी की आशीर्छाया में मालिनी

ननिहाल का ज़िक्र आता है तो नाना की छवि भी उसके साथ जुड़ती है। माँ-पिता का घर भी जहाँ से बुनियादी संस्कार मिलते हैं। आपकी स्मृतियों में यह सब कैसा है?

– नाना बिंदाप्रसाद भट्टाचार्य, प्रशासनिक सेवा में थे, स्वतन्त्रता संग्राम सेनानी थे। आदर्शवादी थे। अपनी ज़मीन जायदाद सब छोड़ दी थी उस समय। भट्टाचार्य फ़ैमिली कन्नौज की ही है। रिवर्स माइग्रेशन की बड़ी इंट्रेस्टिंग कहानी है। पुराने जो ब्राह्मण बंगाल गए थे उनमें गंगा के मुहाने में जो गए वो गंगोपाध्याय हुए। जो एकदम डेल्टा पर रहे, मुख पर रहे वो मुखोपध्याय, जो चटटू के उपाध्याय यहाँ से गए वो चट्टोपाध्याय हुए और भट्टाचार्य जो सिर्फ़ बैठकर पढ़ाते थे, सिखाते थे। लेकिन एक परिवार की जो शाखा थी, दो भाई, वो 200 साल पहले वापस आ गए, जो हमारे नाना के बाबा वग़ैरह थे, वो कहते कि हम लोग 100 साल पहले वापस आ गए। इसका कोई डॉक्युमेंट इतिहास नहीं है। नाना के तरफ़ तो, पढ़ने-पढ़ाने का संगीत का रिवाज था।

नाना-नानी बहुत सामाजिक थे। नानी जिनका नाम सीता था, के बारे में कहते थे कि उनके पास कोई बैठ जाये तो उठने का मन नहीं करता था। वो अपने आप में रौनक थी। बड़ी ख़ूबसूरत, रौबीली थी रानी जैसी। उनकी बात करने की जो शैली थी वो अद्भुत थी। नानी नाना के दोनों के गुणों का बहुत सुन्दर मिश्रण मेरी माँ थी, वैसी ही सामाजिकता, वैसी ही कठोरता जैसे प्रशासक हो कोई। और वैसे ही बात का कमाल का कौशल। मैं तो कहती हूँ कि जो-जो चीज़ें आज कल खो रही है, उसमें बात करने की कला भी है जो खो रही है। ये भी एक कला है। वक्तृता 16 कलाओं में एक है। कैसे किसी को अपना बना लें, रूठे को मना लें, खाने के लिए मना लें, जाते हुये को रोक लें। मेरी माँ तो असाधारण थी। मैंने अभी एक संस्मरण में लिखा था, 1972 इंडो-पाक वार के दौरान एक ट्रेन जा रही थी और हमारे पिताजी (डॉ. प्रमथ नाथ अवस्थी), दवाइयाँ और पट्टियाँ सब पैक कर रहे, माँ प्लेटफॉर्म पर खड़ी होकर पूरियाँ तल रहीं, ताकि सफ़र कर रहे घायल सैनिकों को कुछ सुविधा मिल जाए।

ऐसे ही ताऊजी श्री शशिनाथ अवस्थी, का मेरे व्यक्तित्व पर बहुत प्रभाव था। वो किसी से बात नहीं करते थे। वो व्यसनी थे पढ़ने के। उन्हें कभी किताब के बिना नहीं देखा मैंने। हिन्दी का संसार उनकी वजह से आया। रोज़ शाम को मूढ़ा लेकर बैठ जाते थे। मोहल्ला था मिला-जुला। जिनमें लॉ ऑफिसर से लेकर इंजीनियर से रिक्शे वाला और पान वाला। सबके बच्चे मिल कर बड़ी सी पलटन जमा हो जाती और फिर बातचीत होती। हम उस पीढ़ी को खो रहे हैं जो अपने बच्चों को समय देती थी, सिखाती थी। वो रेल्वे में काम करते थे तो स्टेशन के स्टॉल से रोज़ एक किताब लाते थे। ऐसे ही ताईजी से भी मुझे बहुत कुछ विरासत में मिला। वो लखनऊ के चौक की थीं। गाने बजाने की खान थीं। अभी 93 साल की हैं पर अब भी बड़े अनोखे गाने सुना देती हैं। ग़ज़लनुमा, कव्वाली नुमा, जैसे वो सुनाती हैं- फ़र्शी मख़मल पर मेरे पाँव बिछे जाते हैं...

दूसरी चच्ची के पास भी सारी धरोहर है। नायाब तीज त्योहार के गाने हैं। अद्भुत ढोलक बजाती थीं। वहीं माँ, श्रीमती निर्मला भट्टाचार्य पढ़ी लिखी थीं, पर गाना बजाना उन्हें नहीं आता था शायद इसलिए उन्होंने हमें गाना सिखाया। माँ से मैंने सीखा कि लोगों को कैसे अपना बनाया जाए।

बड़े भाग्य की बात थी कि मेहंदी हसन साहब, ग़ुलाम अली, फ़रीदा ख़ानम जैसी हस्तियों के सामने गाने का अवसर मिला। उस शो की एक सुखद बात बताती हूँ, जजेस चॉइस राउन्ड था, जगजीत सिंह जी ने कहा- अब क्या सुनें इनसे? तो फ़रीदा जी बोलीं कि ये लखनऊ से हैं तो कजरी सुनते हैं। हम सोचने लगे कि कौन सी कजरी सुनाएँ, फिर हमने बेझिझक पूछ ही लिया कि कौन सी कजरी सुनेंगे- बनारस की, अवधी या मिर्जापुरी? या लखनऊ की ग़ज़ल वाली? तो जगजीत सिंह जी बोले- 'कमाल है, हमें पता ही नहीं कि इतनी कजरी होती हैं।'

संग-साथ: मालिनी और अनुलता

सारेगामा के ठीक बाद मैंने अप्पाजी से सीखना शुरू किया, तब जब मेरे पास गाने के बड़े ऑफ़र्स आ रहे थे, लाइम लाइट थी पर तब मैंने सब छोड़ के अप्पाजी से सीखना चुना। उस फ़ैसले ने मेरे जीवन में बहुत बड़ा असर किया।

एक लोक गायिका के रूप में आप बहुत लम्बा सफ़र पार कर चुकी हैं। न मंच की कमी, न महफ़िलों की। लेकिन जाने क्यों सारेगामा हम जैसे प्रशंसकों को भुलाए नहीं भूलता।

– बहुत अच्छे अनुभव थे। बड़े भाग्य की बात थी कि मेहंदी हसन साहब, ग़ुलाम अली, फ़रीदा ख़ानम जैसी हस्तियों के सामने गाने का अवसर मिला। उस शो की एक सुखद बात बताती हूँ, जजेस चॉइस राउन्ड था, जगजीत सिंह जी ने कहा– अब क्या सुनें इनसे? तो फ़रीदा जी बोलीं कि ये लखनऊ से हैं तो कजरी सुनते हैं। हम सोचने लगे कि कौन सी कजरी सुनाएँ, फिर हमने बेझिझक पूछ ही लिया कि कौन सी कजरी सुनेंगे– बनारस की, अवधी या मिर्जापुरी? या लखनऊ की ग़ज़ल वाली? तो जगजीत सिंह जी बोले– 'कमाल है, हमें पता ही नहीं कि इतनी कजरी होती हैं।' फिर मैंने एक–एक मिनिट तीनों चारों सुनाई। चूँकि फ़रीदा जी ने कहा था तो हमने सुनाया– छाई रही काली घटा, जियरा मोरा... उस दिन मुझे ये समझ आया कि जो मेरे लिए खेल है जो मेरे भीतर रचा बसा है वो लोगों को पता नहीं, क्यूँकि वो उन तक पहुँची नहीं, ज़ीरो एक्स्पोज़र! और सब जानने को उत्सुक हैं।

जब रिएलिटी शो की बात चली है तो ये भी बताएँ कि वो दुनिया किस तरह से अलग है?

– रिएलिटी शो में कई अलग–अलग चुनौतियाँ हैं। जो मैं लाइव शोज़ करती आई थी उनसे इतर यहाँ बग़ल में बाजा, तानपुरा नहीं था, म्यूज़िशियन दूर बैठे हैं। मॉनीटर के फीडबैक से गाना है। हेडफ़ोन भी नहीं लगा है। याने आपको सिर्फ़ स्पीकर की आवाज़ से समझना है कि तबला बज रहा है, की–बोर्ड बज रहा है। हम जो ढर्रे पर ढले हैं उनके लिए एक लर्निंग अनुभव था।

और उस समय बच्चों को छोड़ के गई। 20 दिन को इंग्लैंड। रोते थे बच्चों की याद में। बहुत मुश्किल था। अब भी करेजा ऊपर आता है। एक बात बताऊँ– तब वहाँ से एक पाउण्ड का सिक्का लगता था एक कॉल के लिए, एक मिनिट का कॉल पब्लिक बूथ से। जब तक बच्चा लैंड्लाइन तक आए, तब तक फोन कट जाए।

एक बार ऐसा हुआ– बिटिया कुहु ने बात की फिर बेटा कान्हा आए और बोले– 'मम्मा कब आओगे' और फोन कट गया। हम तो रो पड़े– 'प्लीज़ गिव मी वन पाउन्ड' 'एक सिक्का चाहिए मुझे'– हिचकियाँ ले ले रोए हम। अनुलता, क्या कहें! कठिन तपस्या मान लो जीवन।

लेकिन उसके बाद मुम्बई की दुनिया समझ आई। इंडी पॉप एलबम के बड़ी–बड़ी कम्पनी से ऑफ़र भी मिले, जगजीत सिंह साहब ने सिफ़ारिश भी कर रखी थी। उन्होंने एक बार मिलने बुलाया और कहा– तुम इन सब चक्करों में मत पड़ो। वो मुझे लोक संगीत को लेकर एलबम बनाना चाहते थे। वो आवाज़ देंगे, शुरू में कॉमन्टेरी देंगे। क्यूँकि वो फ़ोक की पॉवर से चमत्कृत थे। कम्पनी से बात हुई, कान्ट्रैक्ट हुआ, (ये बात मैं पहली बार किसी को बता रही हूँ)। प्यारेलाल जी के बेटे गौतम, शायद उस कम्पनी को देख रहे थे। पर वो कभी हो नहीं हो पाया। बच्चे छोटे थे। और भी कई वजह रहीं। सारेगामा के ठीक बाद मैंने अप्पाजी से सीखना शुरू किया, तब जब मेरे पास गाने के बड़े ऑफ़र्स आ रहे थे, लाइम लाइट थी पर तब मैंने सब छोड़ के अप्पाजी से सीखना चुना। उस फ़ैसले ने मेरे जीवन में बहुत बड़ा असर किया। हालाँकि क्लासिकल तो 5

बरस की उम्र से सीख रही थी। अप्पाजी ने पहली बार मिलने पर ठुमरी सुनाने कहा। मैंने घबरा के मना किया, तो उन्होंने बार-बार कहा तो झिझक के, डर के मैंने सुनाया- सैयाँ बिना घर सूना, पहाड़ी में। उन्होंने सुना फिर बोलीं, ''इत्ते अच्छे गुरुओं से सीखा है, लेकिन ये जो पूरब अंग की गायकी है ना उसमें जो ख़ासियत है, वो बनारसी ही गा सकता है और ये बैठाने के लिए पिछला भूलना होगा। क्यूँकि इसमें अलग ठहराव है, गम्भीरता है, चैन और सुकून है और तुम तीस साल सीख चुकी हो। सब बैठ गया है भीतर'' मैंने अप्पाजी से कहा कि अप्पाजी आप बस मान लीजिए हमको कुछ नहीं आता। तुम मानोगी नहीं अनुलता, हमने कई-कई ऑफ़र ठुकराए। मुझे लगता है कि ये जो परम्परा है काशी की, बनारस की, पूरब अंग में जो उदारता है, घराने का वैशिष्ट्य मान लो कि लोक भी वहाँ सम्मानित है। मुझे लगा बनारस घराना सच्चे अर्थों में यही है।

आप विदूषी गिरिजा देवी से सीख रही थीं। गुरु-शिष्य परम्परा का निर्वाह कर रही थीं। रीयालिटी शो 'जुनून' इस बीच कैसे आया?

- गजेन्द्र जी मुझे लगातार कॉल कर रहे थे। मैं लेकिन अब रीयालिटी शो नहीं करना चाहती थी। मैं अप्पाजी से सीखना चाहती थी, पूरी शिद्दत से। मैं परिवार के बच्चों के साथ थी। मैं बहुत ख़ुश थी भीतर से। उस समय पढ़ रही थी मैं। रिसर्च पेपर पढ़े, ढेरों किताबें पढ़ीं। अप्पाजी मेरे पास आकर रहती थीं। मैंने संगीत सीखने के अलावा पढ़ा खूब, रिसर्च पेपर पढ़े। मैंने तय किया कि फ़ोक का डॉक्यूमेन्टेशन करूँगी।

मैं एक कार्यक्रम देने गोवा आई थी। तब उनका फिर कॉल आया और बोले आप अजीब अड़ियल हैं? एक बार आइए तो। मैं तब भी मना करती रही कि ये शो मेरे लिए नहीं और रीयालिटी शो के तामझाम सब देख रही थी। मैंने गजेन्द्र सिंह जी को एकदम मना किया। वो लगातार मनाते रहे। मैं बहुत ही असमंजस में थी आख़िर उन्होंने एक बहुत अच्छी बात कही कि आप लोक संगीत के लिए कितना कुछ करना चाहती हैं। तो 'जुनून' के ज़रिए आपकी बात चन्द एपिसोड्स में लाखों लोगों तक पहुँचेगी। बस फिर मैंने मन बना लिया और जब हाथ में लिया तो फिर सौ प्रतिशत देना है- सारा संशय उसके पहले था। गजेन्द्र जी ने कहा प्रिमियर में आइए और मैं ना नहीं सुनना चाहता। मैंने लहंगा निकाला, नथ निकाली, मैं हमेशा से पारम्परिक परिधान पहनने में बहुत सहज थी। मैंने एक क्षण को इमेजिन किया कि मैं स्टेज पर हूँ। कर्टन रेज़र के पहले अप्पा जी से बात की। उनको बताना ज़रूरी था। वो मेरी गुरु थीं। मैंने उनसे कहा- ''अप्पाजी ये लोकगीतों का शो है, वही गाऊँगी, जहाँ तक हो सकेगा रागदारी की बातें करूँगी। पर क्यूँकि ये शो है तो प्रस्तुतिकरण में थोड़ा बहुत उसमें... अप्पाजी एकदम से बोलीं, नहीं-नहीं, तुम जाओ। कर्टन रेज़र में मैंने ''राम जी के भइले जनमवा, चला हो कर आई दरसनवा'' गाया था और वहाँ किसी को ये नहीं पता था कि सोहर का मतलब क्या होता है। प्रेस कॉनफ्रेंस में सबने पूछा कि बताइए आप क्या गा रही थीं, तब मैंने पूरे मन से तय कर लिया कि मुझे ये शो करना ही है। यानि लोग सोहर नहीं जानते, राम के जन्म का प्रतीकात्मक अर्थ नहीं समझते। 'जुनून' ने मुझे भी बदल दिया। लोग मुझसे पूछते थे, कि आप अब तक थी कहाँ? मैं मन ही मन हँस पड़ती, क्या कहूँ, क्या बताऊँ कि मैं अब तक धीमी-धीमी आँच पर सिक रही थी।

लोक संगीत को जन-जन तक पहुँचाया। पर 'जुनून' का जुनून अभी तक लोगों पर तारी है।

- सच कह रही हूँ। मैं बहुत विनम्र होकर कहती हूँ कि हम आज भी, इतने सालों बाद, दुनिया में कहीं भी जाएँ, लोग 'जुनून' की बात करते हैं। हमने उस शो में सब गाया- चैती, राम का सेहरा, टोना, धोबिया- श्रम गीत, नकटा, बन्ना बन्नी, कोहबर, सोहर तो गाया ही गाया, तो वो चीज़ें किसी प्लेटफॉर्म पर थी नहीं। सूफ़ियाना गाया- नज़ीर अकबराबादी को गाया, काशी बाई की ठुमरी गाई- ''तेरी कटीली निगाहों ने मारा'' यानि 'जुनून' के दौरान कैनवस पर लोक के सारे रंग भर दिए। इसीलिए बहुत-बहुत प्यार पाया, इज़्ज़त और प्रसिद्धि पाई। बम्बई की इस शोहरत के बाद दोराहा आ जाता है, कि अब यहीं रहो। लोग आपके साथ काम करना चाहते हैं, आगे बढ़ने के रास्ते खुलते हैं। पर मैंने वहाँ रहना नहीं चुना। वहाँ घर लिया, ताक़ी कभी आए तो रिकॉर्डिंग में आसानी रहे। मैं जड़ों से जुड़ी रही। अप्पा जी के पास वापस लौटी, वही रियाज़ वही उनका सान्निध्य, वही गुरु शिष्य परम्परा, वही ठुमरी...

तब आपका स्टेटस एकदम स्टार वाला हो गया था। हर कोई आपको रिकॉर्ड करना चाहता था।

- (हँसते हुए) हाँ! पर मैं अप्पाजी के पास लौटी। शायद इसीलिए भी मुझे उनका विशेष आशीर्वाद मिला। जब मैं 'जुनून' में गई तो मेरा गंडा बन्ध चुका था। और गंडा बन्धन में गुरु यही वादा लेता है शिष्य से, कि जीवन में कुछ भी करो, ये परम्परा छूटे ना। आज तक उसका संतुलन पूरा मैंने बना रखा है कि पूरब

अंग की, ठुमरी की गायकी है वो ना छूटे और लोक संगीत भी ना छूटे। आपने भारत भवन में देखा ही है कि ठुमरी के लिए आई हूँ तो एक दो गाने फ़ोक की फ़रमाइश पर होते हैं और फ़ोक के लिए आती हूँ तो लोग ठुमरी का आग्रह करते हैं। जुनून ने आत्मविश्वास दिया। बोल्ड्नेस दी। ये भी समझ आया कि लोग आपको एक प्रशासनिक अधिकारी की पत्नी की तरह ट्रीट करेंगे, एक प्रोडक्ट की तरह ट्रीट करेंगे। 'देखा, आज कैसे गा रही थीं, आज लहंगा अच्छा था, मेकअप बड़ा अच्छा था।' लोगों के फ़ोन आने लगे थे।

एक तरफ़ नाम, शोहरत और दूसरी ओर दीगर चुनौतियाँ। किस तरह सम्हाला खुद को इनके बीच?

– हाँ, बिल्कुल, लोग व्यक्तिगत टिप्पणियाँ करते थे। पर फिर मैंने नाचते हुए गाना शुरू किया। हालाँकि बचपन से घर में करती आई थी। शादियों में, बुलौवा में, स्कूल के फ़ंक्शन में नाचती ही थी। इसलिए नाचते हुए भी मैं सुरों को, साँस को सम्हाले रख पाई। उस शो में मैंने अपने ट्रेडिशन को लेकर एक बहुत बड़ा स्टेट्मन्ट कर पाई। गजेन्द्र जी शायद सही थे। ये बात तो थी ही कि मेरी ब्रांडिंग हुई, स्टेज मिला, नाम मिला, पर व्यक्तिगत रूप से बहुत आत्मविश्वास से भरा था। जब 40 की थी, तब युवाओं से मुक़ाबला करना, रिजेक्शन झेलना कि आज आप ख़तरे में हैं और जनता के वोट्स से हार-जीत का फ़ैसला होना। वोट माँगना, आप परदे की नई चुनौतियों का सामना कर रहे हैं, जब आपकी अपनी बच्ची 18 की हो रही।

बहुत बड़ी मेंटल बैटल थी। ये समझो कि 20 साल उम्र घट गई। एक एपिसोड में मैं अम्मा याने सास को साथ लेकर गई थी। सबके लिए ये बहुत प्यारा और दिल को छूने वाला था। उस वक्त इला अरुण जी ने कहा कि जब लोग अपनी उम्र छिपाते हैं आप अपनी सास को लाई हैं। यहाँ ये भी कहूँगी कि ऐसे लम्हों में माँ को याद करती हूँ कि वो नहीं हैं ये सब देखने को।

आपके हिस्से में जो अपार सुयश है, उसमें गुरुओं से मिली तालीम को कितना श्रेय देती हैं?

– अनुलता, ये बहुत ही ज़रूरी सवाल है, मैं चाहती हूँ कि ये बात सब जानें। मैं क्या कहूँ कि कितनी भाग्यशाली रही कि मुझे इतने अच्छे गुरु मिले। रामपुर घराने के शुजात साहब, पटियाला घराने के राहत अली साहब और अप्पा जी। तीनों ऐसे जैसे असली सूफ़ी, याने मस्त मलंग फ़क़ीरी। किसी की निन्दा नहीं, अपनी कला में लीन। हम बचपन में कभी किसी शिष्या की कोई कमी निकालते भी तो अप्पाजी झट सरौता रख के उंगली दिखातीं और कहतीं- 'ना ना रे ना।'

मैंने शुजात साहब से 5 बरस सीखा और राहत साहब तो ऐसे कि बाजे पर बैठे तो बस, ऐसा रूहानी, ऐसा समाँ... राहत साहब की वजह से मेरी गायकी में उनके रंग आए, उनकी ख़ुशबू आती है। ये बात प्रसिद्ध क्रिटिक मंजरी सिन्हा जी ने कही भी थी। वो बोली थीं कि 'मालिनी जी, आपके गाने में सिर्फ़ अप्पाजी नहीं हैं, कहीं-कहीं आप ऐसी जगहें लेती हैं कि राहत साहब नज़र आते हैं।' राहत साहब जो गोरखपुर आकाशवाणी के नगीना थे। 1976 की बात होगी, हम वहाँ परफ़ॉर्म करने जाते थे तो वहाँ राहत साहब मिल

रवीन्द्र भवन, भोपाल में आयोजित विश्वरंग पुस्तक यात्रा 2022 के समापन समारोह में शारदा चौबे स्मृति लोक सम्मान से मालिनी अवस्थी को सम्मानित करते हुए संतोष चौबे एवं विनीता चौबे

जाया करते थे। राहत साहब से हमें समझो इश्क़ रहा है। शायद हम शब्दों में बयाँ नहीं कर सकते। एक बार मेरे एक ईवेंट में बारिश की वजह से तबला बजाने वाले उस्ताद नहीं आए तो मैं रुआँसी हो गई, मैं 13 साल की थी। राहत साहब ने मेरा उदास चेहरा देखा और तबला उठाया और स्टेज पर आ गए। बस 'ना धिन धिन्ना ना तिन तिन्ना ना धिन धिन्ना' की थाप छेड़ दी। सोचिए, आज जब लोग ज़रा सा सीख के, सफल होकर इतने अहंकारी हो गए तब राहत साहब का मेरे लिए बजाना उन्हें कितना बड़ा, कितना सरल बनाता है। उसके बाद मैंने उनसे ग़ज़ल सीखना शुरू किया। उन्होंने पहली कॉम्पोज़िशन बहुत कठिन सिखाई, सोचा होगा शायद ना कर पाएगी (मुसकुराते हुए)

फिर हम तीन साल तक रोज़ उनके घर सीखने जाते। माँ गाड़ी चला कर ले जाती थीं। लखनऊ आने के बाद भी वीकेंड पर गोरखपुर जाया करती थी। टेप रिकॉर्डर में सब रिकार्ड कर लाती थी। उनकी ख़ूबियों को दिल में उतारना मेरा मक़सद बन गया था। उसी दौर में दलेर मेहंदी भी राहत अली साहब से सीख रहे थे। कहते हैं ना शागिर्द में गुरु का अक्स होता है वैसे ही कितनी चीज़ें उनकी मेरे में नाज़िल हो गईं। वो स्टेज पर एक अलग ही शख़्सियत हो जाते थे। मंच खिल जाता था उनके होने से। बड़े मनमौजी थे वरना उनके पता नहीं कितने काम हमारे सामने आते। आपके प्रश्न का जवाब इस नोट पर ख़त्म करती हूँ कि राहत साब का वो मान था कि ग़ुलाम अली साहब जब हिंदुस्तान आए तो गोरखपुर आए ख़ास राहत अली साहब से मिलने।

लोक में सबको जोड़ना होता है। श्रोता साथ गाते हैं, नाचते हैं, कोई वर्जनाएँ नहीं। मुझे सबके भीतर उमंग जगाना है। आह्वान करना होता है। मेरा यही प्रयास होता है कि सब हिस्सा बन जाएँ। हर लोकगीत एक कथा है, कहानी है। आपको मानसिक रूप से वहाँ पहुँचना पड़ता है, उसके दर्शन करने पड़ते हैं तब दूसरों को दिखा पाते हैं।

जनता के बीच जाकर परफ़ॉर्म करना और उनकी पसन्द पर खरा उतरना आसान तो नहीं? आप क्या करती हैं?

– लोक में सबको जोड़ना होता है। श्रोता साथ गाते हैं, नाचते हैं, कोई वर्जनाएँ नहीं। मुझे सबके भीतर उमंग जगाना है। आह्वान करना होता है। मेरा यही प्रयास होता है कि सब हिस्सा बन जाएँ, याने मुख्य अतिथि से लेकर गेट कीपर तक झूमें। कुछ रोचक क़िस्से हैं। उत्तरांचल का स्थापना दिवस था, मुख्यमंत्री मुझे नमस्कार करके जाने लगे तो मैंने कहा अरे, मैं तो राग पहाड़ी गाने वाली हूँ। तो वो रुके। देखा मुझे और बैठ गए। देर तक बैठे सुनते रहे। ऐसे ही ना जाने कितने लोगों को मैंने अपने साथ मंच पर बुलाया और लोग थिरके तबले-ढोलक की थाप पर। हालाँकि लोगों ने मेरे नाचने को एकदम स्वीकारा नहीं, आलोचना की कि संगीत गरिमा के अनुरूप नहीं है। मैंने किसी की नहीं सुनी। मैं जब मंच पर होती हूँ तो संगीत में डूबी होती हूँ। मुझे कोई साज़ बजाना आता होता तो वो भी बजाती।

आपकी लोक और लोक संगीत को लेकर गहरी समझ, शोध, आपका ज्ञान, आपका स्टोरीटेलर होना ये सब आपकी प्रस्तुति को ताक़त ही देता है। गाना सीखना, संगीत साधना करना तो है ही पर उसके अलावा जो आपके भीतर है उसे सहज, सरल और विनम्रता से श्रोताओं तक पहुँचाने की जो अद्‌भुत कला है, वह मास अपील में क्या असर करती है?

– हर लोकगीत एक कथा है, कहानी है। आपको मानसिक रूप से वहाँ पहुँचना पड़ता है, उसके दर्शन करने पड़ते हैं तब दूसरों को दिखा पाते हैं। जैसे शास्त्रीय संगीत या ठुमरी के लिए कहते हैं कि एक आध्यात्मिक यात्रा है, जैसे मन्दिर में गा रहे हैं। प्रार्थना की तरह हैं धमार ध्रुपद। लोक, ज़मीनी बात है, हाड़-मांस के लोगों की कहानी है। उनके दुख-सुख, उत्सव, हर्ष, संघर्ष की कहानी है। तो अगर आपने जीवन देखा नहीं है तो गाने में चित्रित कथा समझ नहीं आएगी। हमें शब्दों से आगे जाना होगा। जब मैं गाती हूँ तो मुझे लगता है ये मेरे साथ हो रहा, मैं व्यतीत हो रही हूँ और मैं चाहती हूँ कि जो सुन रहे हैं, जो साक्षी हैं वो भी मेरे संग व्यतीत हों।

आप अब भी लगातार पढ़ती हैं, ऐसा मुझे लगता है।

– सब कुछ जान लेने जैसी अवस्था कुछ होती ही कहाँ है? हाँ, सही समझा तुमने, लगातार पढ़ती हूँ और अब लगता है इसकी आवश्यकता भी है। अब बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी में हूँ तो नए-नए विषयों को लेकर नई-नई तैयारियाँ होती रहती हैं।

बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी से आप कैसे जुड़ीं, बताइए ना वहाँ का अनुभव।

– अरे क्या कहूँ! बड़ा सम्पूर्ण किया उसने मुझे। हमारी ये बातचीत शुरू ही वहाँ से हुई कि पढ़ने-पढ़ाने में मेरी रुचि पहले से रही। अब क्यूँकि मैं वहाँ 'लोक विधा' में हूँ, मैंने बहुत सारे लोगों के डॉक्यूमेन्टेशन देखे, किताबें पढ़ीं और एक सुखद बात बताऊँ कि वहाँ के स्कॉलर कहते हैं कि आपका वक्तव्य सुनना अच्छा लगता है क्यूँकि वो एकदम मौलिक है। बीएचयू से जुड़ कर मुझे काशी के विद्वानों से जुड़ने का, उन्हें सुनने का मौक़ा मिला। अब जैसे 'हिन्दू स्टडीज़' का सिलेबस। पेपर सेट होने में मैं मेम्बर थी। ये बड़े गर्व की बात थी मेरे लिए। उसमें शक्ति की उपासना, शैव धर्म क्या है ये सब जाना। अब हम अगला करेंगे- भारत की कथा परम्परा। इसके अलावा ज्ञान परम्परा पर, जनपदीय बोलियों पर, यात्रा पर सेमीनार किए। तो मैं लगातार एक विद्यार्थी की तरह सीखती रही हूँ।

आपकी संस्था 'सोन चिरैया' के बारे में बताइए।

– मैं आश्चर्यचकित थी कि मेरा काम कैसे अपनी जगह पा रहा था। नाम, धन, शोहरत, लोकप्रियता... याने मुझे समझ आया कि आज मैं कुछ कहूँगी तो लोग सुनेंगे। मैं समाज को टोटैलिटी में देखती हूँ। तो मेरी

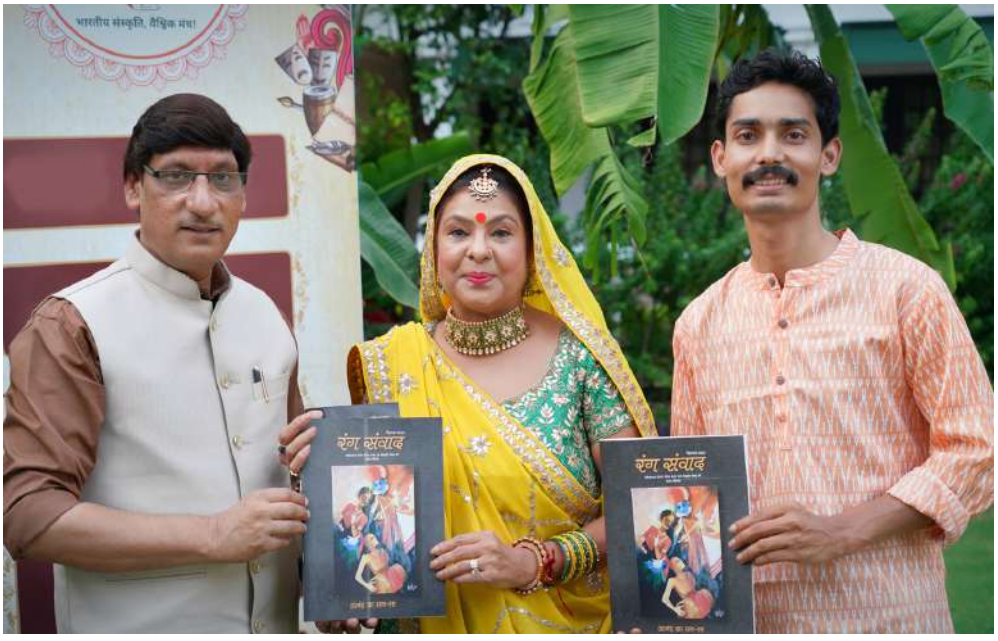

'रंग संवाद' के विशेष अंक के साथ मालिनी अवस्थी

वृहद सोच को शक्ल देने के लिए 2011 में सोन चिरैया की स्थापना की। फिर हमने इसकी अध्यक्षता के लिए अप्पाजी, गिरिजा देवी जी को मनाया क्यूँकि मैं जानती थी कि उनके होने से लोक और शास्त्र के बीच की खाई मिटेगी। संगीत में वर्गीकरण ना रहे, दूरियाँ मिटे। पहले कार्यक्रम में उत्तरप्रदेश की सोलह कलाएँ प्रस्तुत की थीं जिनमें नौटंकी से लेकर पश्चिम उत्तरप्रदेश में गाई जाने वाली रागिनी शामिल थी। हमने कई-कई कलाकारों को मंच दिया। हमने 'मुक्तिगाथा' का मंचन किया। इसमें आज़ादी की पूरी लड़ाई को लोकगीतों के माध्यम से दिखला रहे हैं। अब हमने बच्चों को भी जोड़ा है। बिटिया अनन्या और बहु गायत्री को दायित्व दिया ताकि वो अपनी ज़िम्मेदारी समझें और इसे आगे ले जाएँ।

ये दौर प्रयोग और नवाचारों की बिलकुल नई दुनिया का है। ऐसे समय में आप अपनी विधा को लेकर क्या सोचती हैं?

– सृजन खूब हो रहा है। क्यूँकि नया दौर, नई चिन्ताएँ, नई उपलब्धियाँ आती हैं तो नए विचार आते हैं। लोक का मतलब ही यही है। जो चराचर जगत में घट रहा है वही लोक है। चाहे लोकोक्ति हो, लोककथा हो या लोकगीत। जैसे नोटबन्दी पर गाना बना है। कल को लोग याद करेंगे कि कैसे हुआ था रातों-रात। अब जैसे कारगिल युद्ध पर गाना बना। आल्हा हुआ करता है वीरता का गीत। तो अब तक पृथ्वीराज का आल्हा था, रानी लक्ष्मीबाई पर था पर अब कारगिल पर है। वैसे ही उरी पर आल्हा है, बिरहा है। ऐसे ही किसानों पर लोकगीत बने हैं, उन्हें अन्नदाता मान के लिखा गया है।

ऐसे ही पुराने लोकगीतों में भी परिवर्तन हो रहे हैं। जैसे हम गाते थे- ''मैं बालम वही लूँगी जो हो महलों वाला'', फिर इसको बदल के पैसों वाला किया। उसमें एक अन्तरा आता है, उसमें टमटम का, मोटर गाड़ी ज़िक्र था जिसे लगातार बदल कर नई गाड़ियों के नाम किए गए। साठ-सत्तर के दशक का एक गीत है, ''बन्नी ने भेजा है सन्देस बन्ने के लिए, जल्दी से आ जाओ सरकार शादी के लिए। कहो तो चिट्ठी भेजूँ, कहो तो तार भेजूँ''। तो अब तार रुक गए हैं तो उन गानों में व्हाट्एप्प या विडिओ कॉल का ज़िक्र करने लगे हैं। ऐसे ही बदलते पहनावे और वेशभूषा में बदलाव तक गानों में दिखता है। स्वच्छता पर गाने बने हैं। जब हम इस अभियान का हिस्सा बने तो सफ़ाई के गीत खोजे। तो एक गाना मिला- झट से अँगना बुहार आई रे, मैं तो अवध की गलियाँ सँवार आई रे... मैं तो अवध की गलियाँ बुहार आई रे...। ऐसे ही पानी के गीत बन रहे हैं। इसके अलावा सोहर सदियों से बेटे के जन्म के लिए गाए जाते रहे। मैंने बनाया- 'सुनैना के हरस अपार, सिया को जनम भयो।' मतलब बेटी के जन्म पर भी उत्सव हों, हर्ष हो, नेग दिए जाएँ। मैं ख़ुद नया लिख रही हूँ। नए नकटा भी लिखा है मैंने- 'मोरे सैयाँ बड़े निसानेबाज बालमा'। कई लोग लगातार नया सृजन कर रहे हैं। 'मुक्तिगाथा' किया हमने। उसमें आज़ादी के समय के प्रतिबन्धित गीत लिए। जैसे 'प्रीतम चलूँ तुम्हारे संग, जंग में पकड़ूँगी तलवार'। याने पुराने गानों को खोजना और आज के सन्दर्भ में रचना जारी है। आज हम जब औरतों की आज़ादी और बहादुरी की बात करते हैं तो बीते समय के लोकगीतों में तलवार पकड़ने की बात कितनी सम-सामयिक लगती है। आजकल सिखा भी रही हूँ। जो विरासत में पाया उसको आगे बढ़ाने के साथ नया-नया सृजन लगातार करते जा रहे हैं।

मैं जिस भाषा का प्रतिनिधित्व करती हूँ या जहाँ मैंने जन्म लिया। अवधि, भोजपुरी, बृज और बुन्देली ये पूरी संस्कृति और सभ्यता की शैशव स्थली रही है। यहाँ बार-बार लगातार नए प्रयोग, नए अनुसंधान और नई सर्जना होती रही है। मानस तो एक ही है ना। गोस्वामी तुलसीदास ने अवधी में लिखी लेकिन तमिलनाडु, कन्याकुमारी, कश्मीर तक पढ़ी गई। कबीर भाषा से परे हैं। हमारे देश के आठ नौ प्रदेश तो इसे सरलता से समझते ही हैं- झारखंड, बिहार, उत्तरप्रदेश, छत्तीसगढ़, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, गुजरात, दिल्ली, हरियाणा, राजस्थान। इसके अलावा भोजपुरी, मैथिली, बघेली, निमाड़ी जैसे बोलियाँ भी हम करते रहते हैं। मुझे ख़ुशी है कि नई पीढ़ी भी इससे जुड़ी, ख़ूब काम कर रही है और टेक्नालॉजी के साथ मिल कर आगे बढ़ रही है। ये बड़ा बदलाव है और बेहद सुखद है।

- anulata@turnslow.com

समय में सिनेमा की तलाश

सुदीप सोहनी

प्रयोग और नवाचार को आधार बनाकर सिनेमा कला ने अपने पाँव नापना शुरू किया था। बीसवीं सदी के शुरूआती दो दशकों में ऐसे कई उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनसे यह धारणा पुख़्ता होती है। ज़ाहिर है तकनीक ही सिनेमा की ताक़त रही है। उसके बेहतर इस्तेमाल और नए आविष्कारों के साथ क्रान्तिकारी बदलावों की तस्वीर आज हमारे सामने है। लेकिन तकनीक के साथ ही एक और मुख्य पक्ष सिनेमा का शुरूआत से रहा है और वो है विचार। इसलिए सिनेमा की दुनिया हमेशा से इन दो धड़ों में पनपती रही है।

भारत में जब सिनेमा ने अपने पैर जमाये तो उसमें रंगमंचीय प्रवृत्तियों का योगदान कुछ ज़्यादा था। बोलचाल की भाषा हिन्दू-उर्दू मिश्र हिन्दुस्तानी थी और सिनेमा में नाटकीय सम्वाद अदायगी उसके पारसी रंगमंच के प्रभाव से आई। मूक फ़िल्मों के ज़माने में गीत-संगीत की मंडलियाँ बाक़ायदा सिनेमा दिखाने वाले टेंट में बैठकर पर्दे पर चलने वाले दृश्यों को प्रस्तुत करती थीं। इसलिए सवाक फ़िल्मों के दौर में यही प्रभाव पार्श्व से इस्तेमाल किया जाने लगा। तकनीक ने सुविधा दे दी थी और चलती फ़िल्मों में पर्दे पर से ही ध्वनि का प्रभाव आया। साफ़ है कि सिनेमा बनाने वालों ने कला और पूँजी के मेल से मनोरंजन का बाज़ार तो गढ़ा ही, साथ ही प्रयोगों के मामले सिनेमा हमेशा से बाक़ी कलाओं से आगे रहा।

आज तकनीक के ज़रिये एनीमेशन, थ्री डी, वर्चुअल रीएलिटी आदि में नए-नए प्रयोग हो रहे। सिनेमा कभी तम्बुओं और चलते-फिरते केलियोडोस्कोप में दिखाया जाता। फिर टॉकीज़ों के दौर में हिन्दी गीतों और नृत्यों ने पर्दे पर सिक्के उछालने का दौर भी देखा। फिर मल्टीप्लेक्स के साथ ही 5-डी और 7-डी सिनेमा के अनुभवों ने अपनी जगह बनाई। आज मनोरंजन का यह बाज़ार अब पूरे समय हमारे साथ बना हुआ है और उंगली के एक इंच पर बटन दबाने भर की दूरी पर मौजूद है। मोबाइल और इंटरनेट के आने के बाद कोई भी अपनी पसन्द का सिनेमा (या आज की भाषा में 'कंटेन्ट') देख सकता है। उसके पास चुनाव की कोई कमी नहीं और अथाह समुद्र उसकी मुट्ठी में रखे मोबाइल में क़ैद है। यह तो एक बड़ा वैश्विक परिदृश्य है लेकिन सुविधा की दृष्टि से विषय को समझने के लिए अगर केवल भारतीय सिनेमा के आसपास बात की जाए तो विषय की गम्भीरता को बेहतर ढंग और आसानी से समझा जा सकता है। कला और बाज़ार निश्चित रूप से आज के दौर में अलग नहीं।

अगर भारतीय बाज़ार में इंटरनेट की उपलब्धता के पहले का समय देखें तो भारतीय सिनेमा एक बदलाव के दौर से गुज़र रहा था और पिछली सदी के 80 और 90 के दशक में आई गिरावट के बाद सम्हलने की कोशिशों में था। इस सदी के शुरूआती 15 सालों में 'कंटेन्ट इज़ किंग' पर बड़ा ज़ोर दिया गया। फिर बाद में इंटरनेट पर आसानी से उपलब्ध ओटीटी चैनल्स पर अपना अपना एक वर्ग तैयार होने लगा। लेकिन साल 2016 में भारत में जियो के प्रवेश के बाद स्थिति पूरी तरह से बदल गई। मोबाइल पर आसानी से उपलब्ध होने वाले विडियो ने सिनेमा बनाने और देखने के तरीक़े हमेशा के लिए बदल दिये और सिनेमा हॉल में फ़िल्म देखने जाना भी अब जैसे गुज़रे ज़माने की बात लग रही है। ओटीटी के आने के बाद भी यह समीकरण बदला है और लगभग हर ओटीटी के पास हर तरह के दर्शक वर्ग के लिए कुछ न कुछ उपलब्ध है। यहाँ दो बातें अब भी बनी हुई हैं। एक, निर्माण जिसमें पूँजी, वितरण और अन्य चीज़ें शामिल हैं और दूसरा, उसकी कलात्मकता जिसमें लेखन, अभिनय और इसी तरह की दीगर कलाएँ शामिल हैं।

गुजराती फ़िल्म 'छेल्लो शो'

इस दौर में अब हर फ़िल्म एक प्रोजेक्ट है। पहले विचार को उसकी व्यावसायिकता पर तौला जाता है और फिर बा-क़ायदा विज्ञापन की तरह धारावाहिक, वेब सीरीज़, फ़िल्में, रील्स इत्यादि लिखे जाते हैं। लिखना इससे आसान कभी न था। एक ज़माना था जब लेखक को कुर्ता-पैंट-झोला की छवि के साथ ही देखा जाता और फ़िल्म इंडस्ट्री में वह सबसे दीन-हीन माना जाता था। समाज भी उनके लिए बहुत उदार नहीं था। हालाँकि इसका एक पक्ष यह भी है कि इंटरनेट पर इतना सारा 'कंटेन्ट' उपलब्ध है कि उसका कालजयी हो पाना फ़िलहाल एक सवाल ही बना हुआ है। लेखन के लिए इस समय कोई मानदण्ड तय नहीं हैं और उसका मानक तुरत-फुरत में अपने अंजाम के साथ दर्शकों तक पहुँचना ही रह गया है। जिस किसी के भी पास कोई न कोई कहानी है, अगर निर्माताओं तक पहुँच है तो उसे बना कर फटाफट रिलीज़ कर दिया जाता है। यूट्यूब या सोशल मीडिया वेबसाइट्स पर मुफ़्त उपलब्धता के कारण यह बहुत आसान भी है। और फिर अगर उसके साथ 'वाएरालिटी' का तत्व भी जुड़ जाये तो कुछ ही समय में उसका बहुत बड़ी जनता तक पहुँच जाना तय है। इन सबके कारण 'कंटेन्ट' की ज़रूरत बढ़ गई है, भले ही उसमें 'महत्व' का कुछ हो न हो।

> कन्नड़ और मलयालम फ़िल्में आर्ट हाउस सिनेमा का तमगा लिए आगे बढ़ रही हैं। बांग्ला फ़िल्म उद्योग अपने बनाए मुक़ाम और इतिहास के शिखर को फिर से छूने की कोशिश ज़रुर कर रहा है। इधर गुजरात, हरियाणा, छत्तीसगढ़, राजस्थान जैसे प्रदेशों का संदर्भ ले तो क्षेत्रीय सिनेमा में इन्हीं भाषाओं का सिनेमा फ़िलहाल तो दौड़ में है।

मगर ऐसा भी नहीं कि सब कुछ ख़राब ही है। यह निश्चित रूप से बदलाव का दौर है। पिछले दो दशकों में फ़िल्म निर्माण के तरीक़े में बदलाव आए हैं और नए निर्देशकों, लेखकों, तकनीशियन्स की आमद में बढ़ोतरी हुई है। बात केवल भारत के सिनेमा की करें तो जहाँ मराठी के सिनेमा ने एक स्तर अर्जित कर लिया है वहीं तमिल, तेलुगू फ़िल्मों की इंडस्ट्री ने रातों-रात शोहरत और आय के कीर्तिमान बनाने वाली इंडस्ट्री का दर्जा हासिल कर लिया है। कन्नड़ और मलयालम फ़िल्में आर्ट हाउस सिनेमा का तमगा लिए आगे बढ़ रही हैं। बांग्ला फ़िल्म उद्योग अपने बनाए मुक़ाम और इतिहास के शिखर को फिर से छूने की कोशिश ज़रूर कर रहा है। क्षेत्रीय सिनेमा में इन्हीं भाषाओं का सिनेमा फ़िलहाल तो दौड़ में है और बाक़ी भाषाओं के सिनेमा को नज़रअन्दाज़ तो नहीं पर अभी बात में शामिल नहीं किया जा सकता। उनके अपने दबाव, कमियाँ और अभाव हैं। मुम्बई का हिन्दी सिनेमा भी कई धड़ों में बँट गया है और मसाला हिन्दी फ़िल्मों का दौर जाता हुआ नज़र आ रहा है।

कुल मिलाकर भारतीय भाषाओं में सब अलग-अलग अपने-अपने तरीक़ों से सिनेमा बना रहे हैं और कहने की ज़रूरत नहीं कि फ़िल्म निर्माण अब एक फ़ैशन की तरह हर शहर के युवाओं की पसन्द बनता जा रहा है। इस क्रान्ति का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष सिनेमा निर्माण में कैमरे की सर्वसुलभ उपलब्धता के कारण आया है। तकनीक को हाथों-हाथ लेने वाली युवा पीढ़ी एडिटिंग, कैमरा, थ्री-डी एनीमेशन, साउंड डिज़ाइन, म्यूज़िक, मिक्सिंग जैसी विधाओं में पहले से कहीं ज़्यादा तैयार और चौकन्नी है। यूट्यूब और फ़ेसबुक पर चलने वाले वीडियो पेज और उनकी लोकप्रियता इस बात का सबूत हैं। वेबसीरीज जैसे कांसेप्ट भी चल रहे हैं।

बदलते दौर के सिनेमा में हिन्दी फ़िल्मों में दो मुख्य बदलाव हुए हैं पहला है फ़िल्म संगीत और दूसरा विपणन (डिस्ट्रीब्यूटर्स द्वारा फ़िल्मों को ख़रीदना और रिलीज़ करना)। वैसे तो ये कोई मुक़ाबले की बात नहीं, पर अगर दुनिया के सिनेमा को हिन्दी सिनेमा ने कहीं पटखनी दी है तो वो निश्चित रूप से फ़िल्म संगीत है। हिन्दी सिनेमा की पहचान, यानि पान-चाय की गुमठियों से लेकर होटल-रेस्टॉरेंट की महफ़िलों की शान-हमारा संगीत। इसके बग़ैर न भारतीय मर्दों की दाढ़ी बनती है न रसोई में चाय। हिन्दी सिनेमा का संगीत खाने में नमक के समान है।

हिन्दी सिनेमा का ये ख़ज़ाना किसी भी साहित्य और कला के इतिहास का महत्वपूर्ण पन्ना है, जिसकी इबारत और अक्षर-अक्षर पर सुर के सौदाग़रों और शब्द के साधकों की साँसें और जीवन तैर रहा है। एक समय गीतों के बिना हिन्दी फ़िल्मों की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। रेडियो के भारतीय बाज़ार में आने के बाद से गीत-संगीत जैसे हिंदुस्तानी मध्यम वर्ग के जीवन का ही हिस्सा बन गया था। फिर वो दौर भी आया कि अमीन सयानी द्वारा प्रस्तुत की जाने वाली बिनाका गीतमाला ने जैसे सिनेमा के बाहर एक समानान्तर दुनिया को रच दिया और गायक-संगीतकारों को भारत की जनता ने सिर-माथे बैठाया। गुज़री सदी के पचास के मध्य से अस्सी के दशक तक कभी तो केवल गीतों के ज़रिये ही फ़िल्में 'हिट' हो जाती थीं। अक्सर दर्शक केवल गाने देखने-सुनने के लिए ही टॉकीज का रुख़ कर लेते।

लेकिन बीते पन्द्रह सालों में जैसे संगीत का वो सुनहरा दौर ख़त्म हुआ नज़र आ रहा है। हाल ही कविता कृष्णमूर्ति का एक वीडियो चर्चा में रहा जिसमें वो स्टुडियो में गीत बनने की प्रक्रिया पर ही सवाल उठाते हुए कह रहीं कि आज एक-एक लफ़्ज़ रिकॉर्ड कर के और बाद में कृत्रिम वाद्य यंत्रों द्वारा पिच ऊपर-नीचे करते हुए, गीत बनाए जा रहे। वो मधुर दौर जब एक साथ सौ वादक और कोरस के बीच गायक-संगीतकार-गीतकार मिलकर रिकॉर्डिंग कर रहे, उसका मज़ा और असर क्या इस तरह आ पाएगा? और उससे भी बड़ा सवाल कि वैसा कालजयी संगीत जो जीवन में घुल गया था क्या फिर कभी बन पाएगा?

इसी तरह डिस्ट्रीब्यूटर भी किसी ज़माने में बड़ी हैसियत रखते थे और हिन्दी सिनेमा के सितारा अभिनेता डिस्ट्रीब्यूटर के कहे अनुसार ही फ़िल्मों की कहानी चुनते। हिन्दी सिनेमा इतिहास की सबसे बड़ी फ़िल्म 'शोले' में डिस्ट्रीब्यूटर द्वारा अन्त बदलवाने का सुझाव हो या गीतकार शैलेन्द्र की महत्वाकांक्षी फ़िल्म 'तीसरी क़सम' की असफलता या ऐसे ही कई अनगिनत क़िस्से हैं जिसके ज़रिए हिन्दी सिनेमा में डिस्ट्रीब्यूटर्स की महत्ता साबित हुई है। बदलते सिनेमा में आज विश्वव्यापी डिस्ट्रीब्यूशन का गणित मल्टीप्लैक्स में सिनेमा स्क्रीन के नम्बरों के साथ अपना खेल रच रहा। वहीं दूसरी ओर फ़िल्म फ़ेस्टिवल्स की अचानक आई बाढ़ ने भी नए फ़िल्मकारों के लिए रास्ता खोला है। दुनिया के बड़े और प्रसिद्ध फ़ेस्टिवल्स के इतर पिछले पाँच-सात सालों में भारत के हर शहर में इस तरह के फ़ेस्टिवल्स हो रहे। इनका होना एक सुखद संकेत ही है क्योंकि ओटीटी के आने के बाद यही फ़ेस्टिवल्स नए फ़िल्मकारों के लिए आगे की राह खोल रहे। दर्शक भी इन फ़ेस्टिवल्स से जुड़ रहे और इस तरह एक नया दर्शक वर्ग तैयार हो रहा। यक़ीनन यह आज के बदलते सिनेमा के लिए ज़रूरत के साथ ही सुखद भविष्य का संकेत भी है।

कलाओं में रुचि और फ़िल्मों की 'रीच' बड़ी होने के कारण महानगरों में सिनेमा के प्रति दर्शक का युवा और प्रौढ़ पीढ़ी का झुकाव बना है। और दूसरा इसी सवाल का एक दूसरा पहलू है कि लोग सिनेमा क्यूँ देखना चाहते हैं? इन दोनों ही सवालों के जवाब ढूँढने

के पहले मुझे ऐसा लगता है कि यह मुद्दा एक लम्बी बहस की माँग करता है और इसका जवाब कोई एक नहीं हो सकता। सिनेमा ने हमेशा से 'लार्जर देन लाइफ़' की छवि पेश की है और सिनेमा की कला जितना वास्तविक कुछ नहीं। रंगमंच एक अलग तरह का आनन्द देता है पर सिनेमा का रिअलिस्ट प्रभाव जो छवि प्रस्तुत करता है और इमोशन जगाता है (या जगा सकता है) वह यह मानने पर मजबूर कर देता है कि 'ऐसा है'। अगर भाषा और विचार के अवरोध न हों, कोई पूर्वाग्रह भी नहीं तो सिनेमा का असर चेतन, अवचेतन हर जगह होता ही है। फिर सिनेमाई कहानी एक पूरा जीवन अनुभव भी देती है।

इसमें कोई शक़ नहीं कि कहानी का चयन और कहने का तरीक़ा इन दो चीज़ों ने नए दौर के सिनेमा को भारत का नया सिनेमा बनाया। बात अगर हिन्दी पर ही केन्द्रित रखी जाये तो तस्वीर का एक रंग कुछ अलग नज़र आता है। फिर चाहे वो स्क्रिप्टलैब्स हों या सिने बाज़ार या दुनिया भर के फ़िल्म फेस्टिवल जो लगातार 'कंटेन्ट इज़ किंग' पर ज़ोर दे रहे हैं। इस समय में ख्यात पटकथा लेखक अंजुम राजाबली लगातार नए लेखकों की कहानियों को खोजने और उन्हें बनवाने, लेखक की रॉयल्टी और पटकथा लेखन की बारीक़ियों पर लगातार काम कर रहे हैं। पटकथा लेखन की कई स्कॉलरशिप्स और कॉन्टेस्ट को लेकर उनकी कोशिशें जारी हैं। रजत कपूर, जूही चतुर्वेदी, संजय मिश्रा, राजकुमार राव, मानव कौल, किरण राव, वरुण ग्रोवर, अमिताभ भट्टाचार्य जैसे नाम अब शोहरत के साथ नए हिन्दी सिनेमा के चेहरे बन गए हैं जिनमें युवा फ़िल्मकार उम्मीद के साथ अपने अक्स तलाश रहे हैं। नेटफ्लिक्स, अमेज़न प्राइम, सोनी लिव जैसे ओटीटी प्लेटफॉर्म का अब भी दर्शक रुख़ कर रहे हैं लेकिन बदलाव एक और तरीक़े से भी हुआ है और सिनेमा ने गाँव-देहात-क़स्बों में अपनी ज़मीन तलाश कर ली है।

कई नाम हैं जो चमक-दमक से दूर केवल अपना काम कर रहे हैं। सिनेमा की इन नई उम्मीदों को सलाम है। साफ़ है बदलावों के क्रम में नई पीढ़ी ने नया अन्दाज़ अपनाया। उसने नवाचार केवल दिखने में नहीं उसके भीतर के रचाव में किया। आज 20 मिनट से लेकर डेढ़ घंटे तक की फ़िल्मों के अलावा 5 से 15 मिनट की फ़िल्मों तक में बेहतर काम हो रहा और उनमें क्षेत्रीयता के साथ राष्ट्रीयता के अक्स नज़र आ रहे। टुकड़ों में ही सही पर सिनेमा धीरे-धीरे भारत की कहानी ज़रूर कह रहा है। ऐसा भारत जो बाक़ी और कलाओं में शायद सिमटता जा रहा है।

- sudeepsohni@gmail.com

चालों उस देश में, जहाँ संगीत हो

संजय सिंह राठौर

हरियाणवी में कई फ़िल्में बनी हैं और लगातार बन रही है लेकिन चंद फ़िल्में हैं जिनका जिक्र इतिहास के पन्नों पर सुनहरे हर्फों में दर्ज है। फ़िल्म 'दादा लखमी' कामयाबी का एक विरल इतिहास गढ़ती है। यशपाल शर्मा की यह फ़िल्म क्षेत्रीय भाषाओं में बनने वाली फ़िल्मों के लिए नये मुहावरे के साथ सम्भावनाओं की नयी दस्तक है।

हरियाणा के सूर्यकवि पं. लखमी चंद के जीवन पर बनी कला फ़िल्म 'दादा लखमी' क्षेत्रीय भाषा की फ़िल्मों के लिए एक नया रास्ता गढ़ते हुए भारतीय फ़िल्म उद्योग के लिए नये युग का सूत्रपात करती दिखाई पड़ती है। इसे भारतीय अंचल की सौंधी महक में रची बसी फ़िल्मों का प्रारब्ध भी कहा जा सकता है। फ़िल्म का मुख्य गीत- 'चालों उस देश में... जहाँ संगीत हो... ना हो द्वेष-क्लेश... उड़े भाईचारा हो...' अपने आप में पूरी बानगी बयाँ करता चलता है। 'विश्वरंग' टैगोर अंतर्राष्ट्रीय साहित्य एवं कला महोत्सव द्वारा भारतीय भाषाओं के प्रचार-प्रसार की यात्रा के एक महत्वपूर्ण पड़ाव के रूप में भोपाल में इसकी विशेष स्क्रीनिंग की गई। फ़िल्म के निर्देशक-लोकप्रिय अभिनेता यशपाल शर्मा ने दर्शकों के साथ फ़िल्म पर बातचीत करके इन ख़ूबसूरत लम्हों को और यादगार बना दिया। एक निर्देशक स्वयं दर्शकों के साथ फ़िल्म देखें, ऐसे सुखद क्षण दर्शकों को कम ही नसीब होते हैं।

यशपाल शर्मा ने दादा लखमी के जीवन के बारे में जानने और समझने के लिए हरियाणा के कोने-कोने में बुज़ुर्ग लोगों से सम्पर्क किया, उनसे जानकारी जुटाई। दादा लखमी से जुड़ी 18 पुस्तकों का गहन, गम्भीर अध्ययन किया। लम्बे शोध अध्ययन और 6 साल की अथक मेहनत के बाद फ़िल्म 'दादा लखमी' सम्भव हो पाई। यह फ़िल्म यशपाल शर्मा ने यशविद्या फ़िल्म प्रोडक्शन के बैनर तले बनाई है। उल्लेखनीय है कि इस फ़िल्म में अधिकतर कलाकार, लोक कलाकार, गायक और साजिन्दे हरियाणा से ही हैं। हरियाणा सरकार ने इस फ़िल्म को 6 महीने के लिए टैक्स फ्री भी कर दिया। दादा लखमी फ़िल्म को महामहिम राष्ट्रपति द्रौपदी मुर्मू के करकमलों द्वारा 'राष्ट्रीय फ़िल्म पुरस्कार' से सर्वोत्तम हरियाणवी फ़िल्म के रूप में पुरस्कृत किया गया है। इसके अतिरिक्त 63 से ज़्यादा अन्तर्राष्ट्रीय पुरस्कार भी 'दादा लखमी' को मिल चुके हैं। 74वें कांस अंतर्राष्ट्रीय फ़िल्म समारोह में ऑनलाइन प्रदर्शन के साथ ही 'दादा लखमी' दुनिया के सबसे प्रतिष्ठित कान फ़िल्म समारोह में दिखाई जानेवाली पहली हरियाणवी फ़िल्म बन गई है।

हरियाणा के सोनीपत ज़िले के जंतीकलाँ गाँव में एक साधारण किसान के घर जन्मे पंडित लखमी चंद (1903-1945) परिवार की मर्ज़ी के ख़िलाफ़ संगीत और कविता की दुनिया में गए और अपनी अद्वितीय प्रतिभा के कारण छोटी उम्र में ही वो इतने प्रसिद्ध हो गए थे कि लोग बैलगाड़ियों से मीलों दूरी तय कर उनकी रागिनी सुनने और स्वांग देखने के लिए आया करते थे। उन्हें हरियाणा का कालिदास और शेक्सपियर कहा जाता है। उनके द्वारा रचित रचनाओं को आज

भी नए दौर के गायक नए-नए रूप में प्रस्तुत करते हैं। हरियाणा और हरियाणवी बोली के लिए दादा लखमी का योगदान अतुलनीय है। दादा लखमी पढ़े-लिखे नहीं थे इसके बावजूद उन्होंने पारम्परिक लोकनाट्य विधा 'सांग' को नई ऊँचाइयाँ दी और दर्जनों सांगो और रागिनियों की रचना की। आज उन्हें हरियाणा का सबसे बड़ा सांस्कृतिक आइकन माना जाता है। उनके नाम पर कई पुरस्कार और संस्थाएँ हैं जिनमें रोहतक का फ़िल्म विश्वविद्यालय 'लखमीचंद स्टेट यूनिवर्सिटी ऑफ़ परफॉर्मिंग एंड विजुअल आर्ट्स' एक महत्वपूर्ण संस्थान है।

देश में आज़ादी का आंदोलन चल रहा है। पंडित जवाहरलाल नेहरु हरियाणा के ग्रामीण अंचल में एक सभा को संबोधित कर रहे हैं। उसी रास्ते से पंडित लखमीचंद अपनी मंडली के साथ गुजरते हैं। वे नेहरु जी से मिलना चाहते हैं लेकिन सुरक्षाकर्मी द्वारा उन्हें मना कर दिया जाता है। लखमीचंद अपनी मंडली के साथ वहीं कुछ दूर रागिनी गाने लगते हैं। सारी भीड़ नेहरु जी की सभा छोड़कर उनका गाना सुनने दौड़ पड़ती है।

फ़िल्म के एक महत्वपूर्ण दृश्य में उनकी सफलता और लोकप्रियता की बानगी बहुत रोचक अन्दाज़ में प्रस्तुत की गई है। देश में आज़ादी का आन्दोलन चल रहा है। पं. जवाहरलाल नेहरू हरियाणा के ग्रामीण अंचल में एक सभा को सम्बोधित कर रहे हैं। उसी रास्ते से पं. लखमीचंद अपनी मंडली के साथ गुज़रते हैं। वे नेहरू जी से मिलना चाहते हैं लेकिन सुरक्षाकर्मी द्वारा उन्हें मना कर दिया जाता है। लखमीचंद अपनी मंडली के साथ वहीं कुछ दूर रागिनी गाने लगते हैं और सारी भीड़ नेहरू जी की सभा छोड़कर उनका गाना सुनने दौड़ पड़ती है। फ़िल्म में दादा लखमी के जीवन के सभी पहलुओं को बहुत ही संजीदगी और करुणा के साथ प्रस्तुत किया गया है। फ़िल्म के कई दृश्यों ने लोगों को जहाँ एक ओर खिलखिलाकर हँसने पर मजबूर किया वहीं दामन को आसुओं से भिगोया भी है। गीत-संगीत एक ऐसी विधा है, कला है, जो सदियों से हुनर को पेशे से जोड़ती रही है। दादा लखमी में भी 'कला और पेशे' दोनों का संयोजन बख़ूबी दिखाई दिया। इसके साथ ही फ़िल्म यह भी बयाँ करती है कि एक सच्चे कलाकार को शोषण, संघर्ष, चुनौतियों का सामना करने के लिए हमेशा तैयार रहना चाहिए। हिन्दी फ़िल्मों के लोकप्रिय कलाकार राजेंद्र गुप्ता, यशपाल शर्मा, मेघना मलिक ने माँ के किरदार को बहुत शिद्दत से निभाया हैं। दादा लखमी के बचपन की भूमिका को बाल कलाकार हितेश शर्मा ने इस कदर निभाया कि कहीं लगता ही नहीं कि फ़िल्म देखी जा रही हो। हितेश ने अपने जीवन्त अभिनय से दर्शकों के अन्तर्मन में बहुत गहरी जगह बनाई है। युवा लखमी की भूमिका में योगेश वत्स ने भी यादगार अभिनय किया है। फ़िल्म अन्त तक दर्शकों को बाँधे रखती है।

हरियाणवी में कई फ़िल्में बनी हैं और लगातार बन रही हैं लेकिन चन्द हरियाणवी फ़िल्में हैं जिनका ज़िक्र फ़िल्मी इतिहास के पन्नों पर सुनहरे हर्फ़ों में दर्ज है। नवम्बर 2022 को रिलीज़ हुई यशपाल शर्मा की फिल्म 'दादा लखमी' कामयाबी का एक विरल इतिहास गढ़ती है। क्षेत्रीय भाषाओं में बनने वाली फ़िल्मों के लिए नये मुहावरे के साथ सम्भावनाओं की नयी दस्तक के रूप में परिलक्षित होती है।

- rathoresanjaysingh7@gmail.com

प्रेम की गुलाबी मोहर
भगोरिया

इस थिरकन को देखना जैसे भीलों के सांस्कृतिक ताने-बाने से गुज़रते हुए आदिम गंध को महसूस करना है। हम सब की रूह में जो बहुत गहरे तक रची-बसी है। भगोरिया एक ऐसी ही आदिम यात्रा पर चल पड़ने का आमंत्रण है। इस सफ़र के कई पड़ाव हैं। कई पहलू हैं जिन्हें देखे-जाने बग़ैर भगोरिया की पहचान पूरी नहीं होती।

ये मधुमास है। मौसम रंगतों का। वासन्ती अठखेलियों का। इन दिलकश मंज़रों के बीच मध्यप्रदेश की धार नगरी पार करते ही झाबुआ की झाँकी में मन रमने लगता है। आपस में गूँथी हुई भूरी पहाड़ियों के बीच से गुज़रते हुए आँखें महुआ, करंजी और आम के वृक्षों से अठखेलियाँ करने लगती हैं। हवा के मद्धम झोंके वसन्त की ख़ुशबू समेट लाए हैं। आम पर बौर आ गये हैं। टेसू फूल उठा है। पलाश के फूलों की लाल केशरिया झलक ऐसी लगती है मानों जंगल होली खेलने की तैयारी कर रहा हो, जैसे किसी ने इस जंगल और ज़मीन पर गुलाल बिखेर दिया हो। सारा जंगल मानों सज-धजकर मेला देखने निकल पड़ा हो। भीलों की बिरादरी के लिए यह जश्न प्रकृति का अनूठा उपहार है।

दिशाओं के उस पार तक फैलती एक अनुगूँज, एक स्वर लहरी, एक मधुर तान....। हर साँस के साथ उठती-गिरती लय-ताल पर यहाँ जीवन आनन्द का उत्सव मना रहा है। सुरमई इच्छाएँ समय की थाप पर थिरकती हैं और उमंगों की उँगली थामकर समय में ही अपने होने की गवाही देती हैं। ये है भीलों की रंग-रुपहली दुनिया। भगोरिया के दामन में धरोहर की धड़कनों को थामें यह सदियों से अपने वजूद पर फ़ख़्र करती इंसानी उसूलों का पैग़ाम देती रही है।

इस थिरकन को देखना जैसे भीलों के सांस्कृतिक ताने-बाने से गुज़रते हुए उस आदिम गंध को महसूस करना है जो हम सब की रूह में बहुत गहरे तक रची-बसी है। भगोरिया एक ऐसी ही आदिम यात्रा पर चल पड़ने का आमंत्रण है। इस सफ़र के कई पड़ाव हैं। कई पहलू हैं जिन्हें देखे-जाने बग़ैर भगोरिया की पहचान पूरी नहीं होती। सिलसिला शुरु होता है भगोरिया हाट से।

पुराने ज़माने की तरह आज भी भील अपने वासन्ती पर्व को कई दिनों तक मनाया करते हैं। भगोरिया हाट फागुन की पूर्णिमा आने के सात दिन पहले ही भरने लगते हैं और धुरेण्डी पर यह सिलसिला चरम पर पहुँचता है। भील बालाएँ और किशोर इन हाटों में यायावरी करते हैं। बाँसुरी की तान छेड़ते हुए भील युवक वहाँ अपने होने की गवाही देते हैं।

भोर होते ही भील लड़कियाँ और लड़के भगोरिया हाट की ओर चल देते हैं। लड़कियाँ अपने गाँव की सहेलियों के साथ सज-धजकर निकल पड़ती हैं। लड़के भी अपने गाँव की मित्रमण्डली के साथ आते हैं। सिर्फ़ युवा ही नहीं, गाँव के जेठे-सयाने, स्त्री-पुरुष और बच्चे भी यह मेला देखने आते हैं। झाबुआ अंचल में होली के त्यौहार से सात दिन कोई न कोई हाट गाँवों में भरता ही है। इन सात दिनों में वही हाट भगोरिया हाट कहलाने लगता है।

भगोरिया हाटों में भील लड़कियाँ और लड़के एक-दूसरे को जीवन साथी के रूप में चुनते हैं। कोई भील किसी भीलनी पर रीझकर उसके चेहरे पर गुलाल मल देता है। पर यह एक तरफ़ा रीझना काफ़ी नहीं है। अगर गुलाल का जवाब गुलाल से न आये तो समझ लेना चाहिए कि बात नहीं बनी। जीवन साथी की यह खोज इस मेले में दिन भर चलती रहती है। दिन, चढ़ते-चढ़ते, मेला अपने पूरे शबाब पर पहुँचता है। देखते-देखते शाम घिर आती है और सूरज के डूबने के साथ ही सब अपने गाँव लौटने लगते हैं, इस वादे के साथ कि अगले भगोरिया हाट में निश्चित ही फिर होगी मुलाक़ात।

भीलनियाँ महारास की गोपियों की तरह भगोरिया हाट में नाचती हैं। वे नृत्य के समय अपने पाँव कभी आगे बढ़ातीं और कभी पीछे हटा लेती हैं। कभी गति के अनुसार धीरे-धीरे पाँव रखती हैं। उनके कानों के कुण्डल हिल-हिलकर कपोलों पर आ जाते हैं। भगोरिया हाट का यह नाच भगोरिया नृत्य के नाम से मशहूर हो गया है।

भगोरिया हाट का नज़ारा भीली संस्कृति को बहुत नज़दीक से देखने का मौक़ा भी होता है। भील युवक कानों में मूँदड़े और टोटवा (कानों की बालियाँ) गले में बनजारी साँकल, हाथों में नाहरमुखी चाँदी के कड़े, भुजाओं में हटके और पाँवों में बेड़ी पहनकर सजते हैं। उन्हें रंगीन रूमाल भी ख़ूब भाते हैं। वे रंग-बिरंगे अंगरखे, सलूके और धोती पहनते हैं। उनके सिर पर गहरे लाल, हरे और नीले रंग के बीस हाथ लम्बे साफ़े शोभते हैं। वे टोलियाँ बनाकर अपने-अपने गाँव से बाँसुरियाँ बजाते हुए आते हैं। दूर से बाँसुरी की धुन कानों में पड़ते ही कोई भील बाला अपना साज-श्रृंगार भूलकर मेला देखने निकल पड़ती है।

भीलों का जीवन विंध्याचल, सह्याद्रि और सतपुड़ा पर्वतों के बीच सघन वनों से गुँथा है। मध्यप्रदेश के पश्चिमी छोर झाबुआ, धार, रतलाम और खरगोन ज़िलों में फैले जंगलों में भीलों और उनकी उप जातियों- भिलाला, पटेलिया, बरेला, राँठ, धानुका और नायकड़ा का भी बसेरा है। इन वनवासियों का जीवन भौगोलिक स्थिति के कारण गुजराती, राजस्थानी और मराठी संस्कृति के प्रभाव से अछूता नहीं रहा। इनकी बोली, पहनावे और खानपान पर इनका असर साफ़ दिखता है। पर आज भी ये अपने तीर और कामठी से पहचाने जाते हैं। अपने अचूक निशाने के लिए प्रसिद्ध भील महाभारत के प्रसिद्ध धनुर्धारी पात्र एकलव्य को अपना वंशज मानते हैं। कुछ दन्तकथाओं के अनुसार शिव के कुल से भी वे अपना नाता जोड़ते हैं। झाबुआ के भगौर गाँव में पातालेश्वर महादेव का मन्दिर भी है।

कहते हैं कि झाबुआ के पास बसा भगौर गाँव कभी भीलों के ही राज्य की राजधानी रहा। वे इस अंचल पर राज्य करते थे और धार नगरी के ज्ञान सम्पन्न राजा भोज को लड़ाइयों में सैनिक सहायता भी देते थे। लोक प्रसिद्धि है कि प्राचीन काल में यह भगोर नामक स्थान एक सांस्कृतिक केन्द्र के रूप में भी अपनी पहचान रखता था। कहा जाता है कि यह भृगु ऋषि के नाम पर बसाया गया था। भील अपने गीतों में जसमा ओड़न का जस गाते हैं जिसने भगोर में सरोवर बनाया। भगोर की समृद्धि की कथाएँ भीलों में प्रचलित हैं। भगोरिया हाट की कहानी इसी भगोर से जुड़ी मानी जाती हैं।

भगोरिया नृत्य से पहले भगुरिया थान (नाच स्थल) पर गाड़े गए काठ के स्तम्भ की होम देकर पूजा की जाती है। यह पूजा गाँव का मुखिया करता है और फिर मांदल, काँसे की थालियाँ, फेफरया (शहनाई) और बाँसुरियाँ बज उठती हैं।

कवि ध्रुव शुक्ल 'भगोरिया' के लालित्य को कुछ इस तरह निहारते हैं– ''भीलनियाँ महारास की गोपियों की तरह भगोरिया हाट में नाचती हैं। वे नृत्य के समय अपने पाँव कभी आगे बढ़ातीं और कभी पीछे हटा लेती हैं। कभी गति के अनुसार धीरे–धीरे पाँव रखती हैं। उनके कानों के कुण्डल हिल–हिलकर कपोलों पर आ जाते हैं। भगोरिया हाट का यह नाच भगोरिया नृत्य के नाम से मशहूर हो गया है। इसकी ताल पाँच और छह मात्राओं के टुकड़ों की होती है। जैसे–जैसे उमंग बढ़ती जाती है नृत्य की लय भी तेज़ होती जाती है। भगोरिया में भाव नृत्य नहीं होता, आनन्द का सारा आवेग अंग संचालन में ही उमड़ता है।''

भगोरिया नृत्य में लहराती उमंगें क़ुदरत की नेमत के लिए आत्मा की गहराइयों से उभरा आभार हैं। ये रूहानी खुशी फ़सल की अच्छी पैदावार का नतीजा है। इन्द्रदेव की कृपा, पुरखों का आशीर्वाद और भीलों का परिश्रम जब फलीभूत होता है तो जैसे आसमान पर खिला सपनों का इन्द्रधनुष धरती पर उतर आता है। आस्थाएँ अपने इष्ट के सामने सिर झुकाती हैं। अनुष्ठान के पवित्र भाव रूह–रक्त में उतरते हैं और उम्मीद का उजास लिए जीवन की मधुरिमा में फिर से लौटने का उत्साह लिए भीलों का कुनबा अपनी मुक्ति का महापर्व मनाने मचल उठता है। सारा कल्मष, सारी कटुता, सारा अवसाद एक अनुरागी–कामना से भरकर प्रेम का पैग़ाम रचता है। तमाम संकोचों और बन्धनों से निकलकर जीवन की रंगभूमि एक उत्सव में बदल जाती है। – विनय उपाध्याय

भगोरिया हाटों में भील लड़कियाँ और लड़के एक–दूसरे को जीवन साथी के रूप में चुनते हैं। जीवन साथी की यह खोज इस मेले में दिन भर चलती रहती है। दिन चढ़ते–चढ़ते, मेला अपने पूरे शबाब पर पहुँचता है। देखते–देखते शाम घिर आती है और सूरज के डूबने के साथ ही सब अपने गाँव लौटने लगते हैं, इस वादे के साथ कि अगले भगोरिया हाट में फिर होगी मुलाकात!

विदुषी अश्विनी भिड़े देशपाण्डे

वक़्त को अलविदा कहते साल 2022 का आख़िरी महीना। साँझ का सुरीला मुहूर्त। गोधुली के मंगल में 'मारु विहाग' के कोमल स्वर घुल गये थे और बेग़म परवीन सुल्ताना के कंठ से झरता गान जैसे इबादत का पाकीज़ा अहसास बनकर श्रोताओं की रूह में उतर आया था। मोहम्मद ग़ौस का मक़बरा एक बार फिर मौसिक़ी की गमकदार तानों से गूँज रहा था। बेग़म की बेमिसाल गायकी के सम्मोहन में डूबी इस महफ़िल पर हर कोई निहाल था। मुमकिन है कि मियाँ तानसेन आसमान की किसी कोर पर आसन जमाए इस नज़ारे पर अपना आशीष लुटा रहे हों!

सुर यहाँ इबादत के
फूल–सा महकता है

तानसेन संगीत समारोह

चम्बल की सरहदों में बसे ग्वालियर की सरजमीं पर अब हर बरस ऐसे ही सुरीले मौसम उतरते हैं। इन आहटों को तानसेन संगीत समारोह के नाम से दुनिया पहचानने लगी है। बस, दो बरस बीतेंगे और यह जलसा सौवीं पायदान तय कर लेगा। लेकिन 98वीं बरसी का यह उत्सव अपनी तमाम रंगतों में शताब्दी के मुहाने की मुस्कुराहट लिए सुर–साज़ और आवाज़ों का दिलकश कारवाँ लिए पेश आया। 18 से 23 दिसम्बर की दरमियानी महफ़िलों में जैसे सारे जहाँ के सुर तानसेन की इस तपोभूमि में सिमट आये। यक़ीनन यह विश्व संगीत समागम था। हिन्दुस्तानी संगीत की मुख़्तलिफ़ शैलियों और परम्पराओं में परवरिश पाने वाले गायन–वादन से लेकर यू.एस.ए., इज़राइल और अर्जेन्टीना जैसे मुल्कों में गाये–बजाने वाले संगीत की प्रस्तुतियों का मंच सजा था। तमाम फ़ासलों और संकीर्णताओं को तौबा कर सात सुरों का परचम लिए सैकड़ों फ़नकार मियाँ तानसेन का एहतराम कर रहे थे। सच्चे सुरों की कसौटी भी यही है कि वे आत्मा के आसन पर देवता की तरह बिराजें। तानसेन समारोह इस सच की गवाही देता है। यह भी कि संगीत किसी भी फ़िरक़ापरस्ती को नहीं जानता। वो तो बस, मनुष्यता की महक बनकर हर रूह में उतर जाता है। इसी शपथ के आसपास नित्यानंद हल्दीपुर और संतोष संत की मुरली का नाद गूँजा, प्रवीण शेवलीकर और अनुप्रिया देवताले की वॉयलिन से रागदारी का रोमांच बिखरा, ब्रजभूषण गोस्वामी और धानी गुंदेचा की ध्रुपद की तानों का तिलिस्म जागा, पं. व्यंकटेश कुमार, विदुषी अश्विनी भिड़े देशपाण्डे और जयतीर्थ मेवुंडी की ख़्याल गायिकी में परम्परा की बन्दिशों का आसमान खुला। पं. डालचंद्र शर्मा की पखावज पर ताल के छन्दों का लालित्य बिखरा।

युवा संगीतकारों की फ़ेहरिस्त में अनुजा झोकरकर, रीता देव, उमेश कंपूवाले, विनोद मिश्रा, विवेक नवले जैसी प्रतिभाएँ भी जुड़ीं जो विरासत के सच्चे उत्तराधिकार की उम्मीद बनकर उभरे हैं। ग़ौर करने का पहलू ये है कि हमारी समकालीनता का शास्त्रबद्ध संगीत इस मंच पर अपनी बहुलता का विन्यास लिए प्रकट होता है। यह यक़ीन पुख़्ता होता है कि बेजान और अर्थहीन तथा लगभग शोर भरे बीहड़ में अब भी भाव–रस की मधुरता को बचा लेने का सुरीला संकल्प बाकी है। मुम्बई से लेकर

धारवाड़ और दिल्ली से लेकर भोपाल तक तीन पीढ़ियों के सौ से भी ज़्यादा संगीतकारों की आमद सुखद विस्मय से भर देती है। मध्यप्रदेश के संस्कृति महकमे की पहल पर नगर निगम ग्वालियर तथा स्थानीय संस्थाओं के सहयोग से यह समारोह हर वर्ष की तरह उस्ताद अलाउद्दीन ख़ाँ संगीत एवं कला अकादेमी संयोजित करती रही है। एक आन्तरिक अनुशासन में बिंधा है यह भव्य उपक्रम। संगीत से जुड़े अनेक नए आयामों और गतिविधियों ने इस समारोह को प्रस्तुति, सम्वाद तथा आस्वाद और रसिकता की दृष्टि से एक आदर्श और गरिमामय आयोजन के रूप में स्थापित किया। तानसेन समारोह की पूर्व संध्या 'गमक' की सभा को आयोजित करने की परिकल्पना भी इसी नवाचार और विस्तार का प्रतीक है। मंशा यही कि तानसेन की मज़ार पर जब मौसिक़ी का जलसा शुरू हो तो इस महफ़िल से उठी आवाज़ भी प्रार्थना का एक पवित्र स्वर बनकर उभरे। इस बार गायक हंसराज हंस के नाम यह हाज़िरी थी।

परिकल्पना, संयोजन और विस्तार की दिशाएँ कुछ इस तरह खुलती रहीं कि यहाँ सभा-पण्डाल से अलग 'वादी-संवादी' की बैठक में संगीत मनीषी पं. किरण देशपाण्डे और ग्वालियर घराने की मेधावी गायिका शाश्वती मंडल ने साहित्य, संगीत, रियाज़ और प्रदर्शन को लेकर संगीत के विद्यार्थियों से संभाषण किया। एक परकोटा 'गीत गोविन्द' पर एकाग्र रागमाला के चित्रों से अटा था तो दूसरी ओर ललित कला प्रदर्शनी में 'रंग सम्भावना' के फ़लक तानसेन के संगीत समय को रच रहे थे। अलाउद्दीन ख़ाँ संगीत अकादेमी के निदेशक संगीत के गहरे अनुरागी जयंत भिसे इन सबके बीच सौहार्द की सुगन्ध बिखेरते इस सौभाग्य से भरे थे कि उन्हें एक ऐतिहासिक समारोह की ख़िदमत का अवसर मिल सका। अकादेमी के उपनिदेशक राहुल रस्तोगी इस समारोह की एक सदी के उत्सव की कल्पना में डूबे दिखाई दिये। हालाँकि 98वीं कड़ी में गतिविधियों का फैलाव ग्वालियर और आसपास के इलाक़ों तक हुआ है। तानसेन की जन्मभूमि बेहट सहित शिवपुरी, दतिया और पड़ावली गाँव के निकट बटेश्वर मन्दिर प्रांगण में भी संगीत की सभाएँ हुईं। सुखद विस्मय होता है कि 1924 में सिंधियावंश के तत्कालीन महाराजा की पहल पर तानसेन की समाधि पर एक छोटे से उर्स की शक्ल में शुरू हुई गतिविधि आज दुनिया के सबसे बड़े संगीत पर्व का स्वरूप ले चुकी है।

इस समारोह के साथ महत्वपूर्ण पहलू जुड़ा तानसेन सम्मान का। 1980 में इस राष्ट्रीय सम्मान की स्थापना हुई। तब पाँच हज़ार की मानद राशि तय हुई। वर्तमान में यह निधि दो लाख रुपए कर दी गयी है। वर्ष 2022 का सम्मान प्रख्यात बाँसुरी वादक पं. नित्यानंद हल्दीपुर को प्रदान किया गया, जो विदुषी अन्नपूर्णा देवी के प्रिय शिष्य रहे। संगीत सेवी संस्था सामवेद सोसाईटी फॉर परफ़ॉर्मिंग आर्ट मुंबई को राजा मानसिंह तोमर सम्मान दिया गया। संचालक संस्कृति अदिति त्रिपाठी ने नित्यानंद के जीवन और सृजन का प्रशस्ति वाचन किया। समारोह में नवाचार के नाम पर विविध गतिविधियों के जो आयाम जुड़े उसमें वादी-सम्वादी के साथ विवादी स्वर भी उठते रहे। कलाकारों का एक धड़ा 'गमक' और विदेशी संगीतकारों की प्रस्तुतियों को

राष्ट्रीय तानसेन सम्मान 2022 से मूर्धन्य बाँसुरी वादक पं. नित्यानंद हल्दीपुर को ग्वालियर में आयोजित समारोह में विभूषित किया गया। प्रसंगवश मध्यप्रदेश की संस्कृति मंत्री उषा ठाकुर, नृत्य विदुषी उमा डोगरा, संगीत मनीषी किरण देशपाण्डे, संचालक अदिति त्रिपाठी, कला अकादमी के निदेशक जयंत माधव भिसे।

नौ दशक से भी ज़्यादा बीत गए। इस बीच देश–दुनिया में बहुत कुछ बदला लेकिन ग्वालियर के हज़ीरा इलाक़े स्थित तानसेन की समाधि पर सुरों की इबादत का यह सिलसिला बदस्तूर जारी रहा। कुछ ऐसा रूहानी असर कि मौसिक़ी से ताल्लुक़ रखने वाले दुनिया के तमाम फ़नकार इस देहरी पर आकर अपने महान पुरखे की याद में सिर झुकाना चाहते हैं। सुरों का चराग़ जलाकर दुनिया के लिए अमन–चैन की दुआ माँगते हैं।

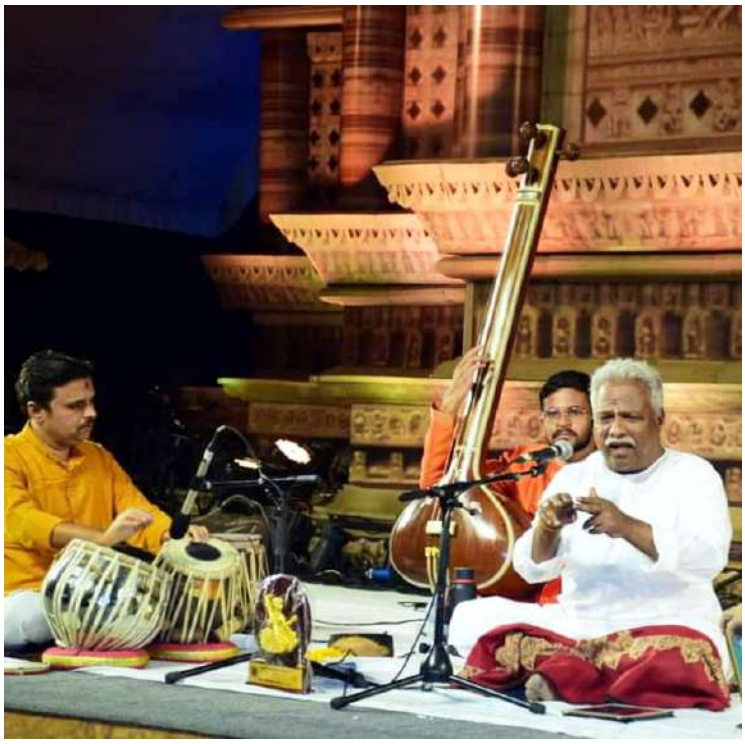

पं. व्यंकटेश कुमार

समारोह की शास्त्रीय शुद्धता पर 'ग्रहण' की तरह अनुचित मानता है। आयोजकों की दलील है कि समारोह को संगीत की समग्रता में रचते हुए ये प्रयोग लोक रुचि और उनके परामर्श को दृष्टिगत रखते हुए किये गये।

ग्वालियर का अपना एक सुदीर्घ राजनैतिक–सामाजिक इतिहास रहा है। लेकिन अतीत के पन्नों पर संस्कृति की सुनहरी इबारत पढ़ते हुए किंवदंति पुरुष संगीत सम्राट तानसेन की याद सहसा हमारे ज़ेहन में कौंधती है। कुशल गायक, संगीतकार, कला–मर्मज्ञ और कवि के रूप में तो उनकी ख्याति थी ही लेकिन संगीत के प्रति अगाध प्रेम ने उनके व्यक्तित्व को कुछ ऐसा गढ़ा कि ग्वालियर की सरज़मीं को उन्होंने संगीत का तीर्थ बना दिया। दुनिया उन्हें अकबर के नौ रत्नों में शुमार गायक के तौर पर भी पहचानती है। उन्हीं के काल में ध्रुपद और ख़्याल गायन का चरम विकास हुआ।

ग्वालियर को उन्होंने संगीत के एक ऐसे गढ़ के रूप में लोकप्रियता प्रदान की कि अनेक गुणी गायक–वादकों ने ग्वालियर को अपनी साधना–भूमि बना लिया। मान मन्दिर, गूजरी महल और सहस्त्रबाहु मन्दिर का खुला परिसर जाने कितनी सभाओं का साक्षी रहा है। राजा मानसिंह तोमर ने अपने समय में भारत के अनेक संगीतकारों को आमंत्रित कर एक संगीत परिषद आयोजित की थी। उस दौरान हुए विचार–विमर्श को बाद में 'मान कुतूहल' ग्रंथ में संग्रहित किया गया था। जन्म से हिन्दू रीति–रिवाज़ों में पले–बढ़े तानसेन अपनी उम्र के छठे दशक तक पन्ना के राजा रामचन्द्र के दरबारी गायक रहे। संगीत में उनकी सिद्धहस्तता के कारण जब शहंशाह अकबर ने उन्हें आगरा बुलाकर अपने नवरत्नों में शामिल किया तो उन्होंने अपने आप को सूफ़ी सम्प्रदाय के अधिक नज़दीक पाया। तानसेन अकबर के पीर सूफ़ी संत शेख सलीम चिश्ती के प्रभाव में भी रहे और कालांतर में अकबरी दरबार से जुड़े सूफ़ी सन्त हज़रत मोहम्मद ग़ौस के सानिध्य में आकर उन्हें अपना आध्यात्मिक गुरु भी बनाया। 1589 ईस्वी में तानसेन के महाप्रयाण के बाद उनकी मज़ार इसीलिए हज़रत मोहम्मद ग़ौस के विशालकाय मक़बरे के क़रीब बनाई गई।

नौ दशक से भी ज़्यादा बीत गए। इस बीच देश–दुनिया में बहुत कुछ बदला लेकिन ग्वालियर के हज़ीरा इलाके स्थित तानसेन की समाधि पर सुरों की इबादत का यह सिलसिला बदस्तूर जारी रहा। कुछ ऐसा रूहानी असर कि मौसिक़ी से ताल्लुक रखने वाले दुनिया के तमाम फ़नकार इस देहरी पर आकर अपने महान पुरखे की याद में सिर झुकाना चाहते हैं। सुरों का चराग़ जलाकर दुनिया के लिए अमन–चैन की दुआ माँगते हैं। सुर की उस करिश्माई ताक़त और असर को हासिल करना चाहते हैं जिसे तानसेन ने अपनी साधना के बल पर अर्जित किया था। **-विनय**

विद्रोही छवियों का रंगपटल

क्रान्ति के क़दम बढ़ाने की कामनाएँ लिए किरदार अवतरित होते हैं और विचार की रौशनी थामे ज़िन्दगी की धूप-छाँही दास्तानें सुनाकर ओझल हो जाते हैं। बाक़ी रह जाते हैं कुछ अहसास और अक्स, ज़ेहनी परतों पर जिनकी दस्तक देर तक सुनाई देती है। भोपाल का रंगमंच नए साल की सर्द शामों को कुछ ऐसी ही गर्मज़ोशी से भरता रहा। दर्शकों की आमद और शहीद भवन का सभागार इस धारणा को झुठलाते रहे कि मनोरंजन के आधुनिक बाज़ार ने नाटक जैसी पारम्परिक कला को लील लिया है या बिरादरी को अब नाटक की ग़रज़ नहीं।

नाटकों का यह जश्न कोई हँसी-खेल-तमाशा नहीं था। बा-क़ायदा आज़ादी के इतिहास से उठाए गए नायकों, जनजातीय चेतना और घटनाओं की ज्वलन्त बानगियों को समेटता कलात्मक अनुभव था। अपने में मसरूफ़ रहने वाले शहरियों का इस ओर रुझान साबित करता है कि रंगभूमि पर सक्षम, सार्थक और शालीन हस्तक्षेप की जगह बनी हुई है। बहरहाल, स्वाधीनता संघर्ष के कई बिखरे, अनदेखे और उपेक्षित पहलुओं के संकलन में जुटे मध्यप्रदेश शासन संस्कृति विभाग के स्वराज संस्थान के सालाना नाट्य समागम का यह पड़ाव काफ़ी उम्मीदें समेटे था। अत्युक्ति नहीं कि सधे क़दम राहें नापता यह कारवाँ अब भारत के मौजूदा रंग परिदृश्य में एक आन्दोलन की शक्ल ले चुका है। आज़ादी के अमृत महोत्सव की सरगर्मी में यह समारोह अधिक मानीखेज़ हो जाता है।

दस से सोलह जनवरी की दरमियानी शामें भोपाल-कटनी सहित दिल्ली, राँची और बनारस के सैकड़ों कलाकार शहीद भवन में दस्तक देते रहे। यह देश का पहला और अकेला समारोह है जो लगभग डेढ़ दशक की आवृत्ति में स्वाधीनता के संग्रामी अतीत को जनजातीय चेतना के साथ ही अन्य अछूते और ज्वलंत पहलुओं के साथ जीवन्त करता रहा है। इस दफ़ा अजय मलकानी, प्रवीण चौबे, योगेश तिवारी, सौरभ परिहार, रामजी बाली, भारती शर्मा और आस्था कार्लेकर जैसे निर्देशकों की कल्पना तथा कौशल में रचे-बसे प्रयोगों को देखने का संयोग रहा। एक तरह से यह हमारे वक़्ती दौर में हो रहे रंगकर्म के रुझान, तासीर, अध्यवसाय, दक्षता तथा सामाजिक-सांस्कृतिक हस्तक्षेप को देखने-परखने का भी अवसर था। यह भी कि अपनी शैली और मुहावरे में लोक मानस तक पहुँचने तथा उनमें उद्वेलन जगाने की कितनी क्षमता हमारे समय के नाटकों में है। एक तरह से इस बात को जाँचने का विकल्प भी देता है 'जनयोद्धा' का यह कला मंच कि भारत के स्वाधीनता संघर्ष को क्या हमने महज कुछ तारीख़ों,

भारत के स्वाधीनता संघर्ष को क्या हमने महज़ कुछ तारीख़ों, घटनाओं और किरदारों तक ही सीमित कर रखा है या कि उपेक्षित, अनदेखे और लगभग भुला दिये गये बहुत से इतिहास की साँसें लौटाने का जतन किया है? बेशक इस सवाल का सकारात्मक उत्तर जनयोद्धा के मंच पर मिलता है। आज़ादी के अमृत महोत्सव की सरगर्मी में यह समारोह अधिक मानीखेज़ हो जाता है।

जनयोद्धा

घटनाओं और किरदारों तक ही सीमित कर रखा है या कि उपेक्षित, अनदेखे और लगभग भुला दिये गये बहुत से इतिहास की साँसें लौटाने का जतन किया है?

बेशक इस सवाल का सकारात्मक उत्तर यहाँ मिलता है। याद आता है जब इस प्रकल्प का बीज 'आदि विद्रोही नाट्य समारोह' के नाम से अँखुआया

था। एक नई हिलोर भारत के रंगपटल पर जागी थी। शायद ही ऐसा कोई अग्रणी-मूर्धन्य रंगकर्मी हो जो इस समारोह का हिस्सा न बना हो। स्वराज और स्वाधीनता के पक्ष में नए शोध और सर्वेक्षण की दिशाएँ खुलीं। यह चुनौती भी सामने थी कि रंग प्रयोगों की चकाचौंध में इतिहास की प्रामणिकता गुम ना हो जाए! यानी एक सिरे पर मनोरंजन रहे और दूसरा सिरा विचार की ऊष्मा देता रहे। ऐसा नहीं कि सारे प्रयोग श्रेष्ठता की कसौटी पर खरे ही रहे हों। लचर आलेख, कमज़ोर निर्देशन और अधपकी प्रस्तुति ने कई बार दर्शकों को निराश भी किया। यहाँ चयन समिति पर भी सवाल उठते रहे लेकिन विसंगतियों के इस गुबार में उम्मीद के गुल भी महकते रहे। यही कारण है कि इसकी निन्तरता बनी रही। इस तारतम्य में संस्कृतिकर्मी श्रीराम तिवारी की बुनियादी सूझ और पुरुषार्थ को रेखांकित करना ज़रूरी लगता है। म.प्र. के संस्कृति महकमे के अधीन स्थापित स्वराज संस्थान के संचालक रहते उन्हीं की पहल पर समारोह ने अपना पहला क़दम नापा था। दर्शकों और कला आलोचकों से मिले बेहतर प्रतिसाद के बाद इसका आयोजकीय ताना-बाना भी नई शक्ल लेता रहा। भारत भवन और रवीन्द्र भवन के बड़े प्रेक्षागृह से निकलकर अब यह समारोह विधायकों की बस्ती में निर्मित शहीद भवन में स्थानान्तरित हो गया है। इसके तकनीकी कारण हो सकते हैं लेकिन दिग्दर्शन की भव्यता और दीप्ति पर भी ज़रूर असर पड़ा है, दर्शकों की प्रतिक्रिया कुछ ऐसा ही बयाँ करती है।

बहरहाल, इतिहास के गहरे शोधार्थी और स्वराज संस्थान के प्रभारी संतोष कुमार वर्मा चले आ रहे प्रतिष्ठा आयोजन की अहमियत इस बात से आँकते हैं कि आज़ादी का अतीत रंगमंच के ज़रिये जन मानस में देशभक्ति का जज़्बा जगा सका है। 'जनयोद्धा' के रंगदलों को एकजुट करने और प्रबन्धन के दायित्वों से जुड़े प्रदीप अग्रवाल इस समारोह को सामूहिकता का उत्सव कहते हैं।

देखने की बात ये है कि किसी भी नाटक की परिकल्पना सिर्फ़ रंगमंच के स्थापत्य तक सीमित नहीं होती। विषय वस्तु, विचार और अभिनय के साथ पूरे कलात्मक प्रभाव की जीवन्तता लिए होती है। 'जनयोद्धा' के नाटक इस तथ्य की पुष्टि करते हैं।

झारखंड की अस्मिता, सांस्कृतिक विरासत और औपनिवेशिक शोषण के विरुद्ध संघर्ष की कहानी दर्शाते 'उलगुलान' नाटक में पाखंड और अंग्रेज़ी हुकूमत के विरुद्ध धरती पुत्र तिलका मांझी, बुद्धू भगत, सिद्धू-कान्हू संथाल, बिरसा मुण्डा के संघर्ष और बलिदान गाथा को प्रस्तुत किया गया। अपनी वीरता, स्वाभिमान, समर्पण और संकल्पबद्धता के कारण इतिहास में स्मरणीय रहे महानायक बिरसा मुंडा एक ऐसे धर्म की स्थापना करना चाहते थे जहाँ भय नहीं विश्वास हो और लोग स्वतंत्रता के साथ जीवन जी सकें। इसके लिए उन्होंने क्रान्तिकारी गतिविधियों में सक्रिय रहकर अंग्रेज़ शासकों को चैन की साँस नहीं लेने दी। 'उलगुलान' का सार यही था। नाटक के निर्देशक अजय मलकानी कहते हैं कि

उलगुलान नाटक रूढ़िगत अर्थों में इतिहास नहीं है। भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन में गुमनाम शहीद शूरवीरों के गौरवशाली योगदान और झारखंड की साझी विरासत को यहाँ यथार्थवादी शैली में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

एक अन्य प्रस्तुति 'टंट्या गाथा' को देखना भी रोचक अनुभव था। मध्यप्रदेश की वीरता के जनक्रान्ति के नायक टंट्या भील की वीरता के आसपास घूमता यह नाटक रंगकर्मी प्रवीण चौबे की कलात्मक ऊर्जा और कल्पना की मिसाल बना।

प्रवीण के मन में सात वर्षों से टंट्या मामा के जीवन चरित पर एक एकल नाट्य प्रस्तुति करने का विचार चल रहा था। इस सपने को साकार करने के लिए निमाड़ अंचल की लोक समृद्ध परम्परा, शिल्प, गीत-संगीत का मिश्रण करते टंट्या गाथा एकल प्रस्तुति तैयार हो पायी है। वसन्त निरगुणे की पटकथा, मॉरिस लाजरस का कर्णप्रिय संगीत, स्वस्तिका चक्रवर्ती एवं प्रवीण चौबे के गीत, विकास सिरमोलिया, सौरभ, जीत, मनीष अहिरवार का संगीत संयोजन एवं कमल जैन की प्रकाश परिकल्पना ने प्रस्तुति को और भी मनमोहक बना दिया।

स्वाधीनता आन्दोलन के एक अहम किरदार रामप्रसाद बिस्मिल की जांबाज़ी के क़िस्सों को सुनना-देखना भी उपलब्धि रहा। योगेश तिवारी इसके निर्देशक थे। सादात भारती ने इसके दृश्यों को प्रकाश के बिम्बों से प्रभावी बनाया।

रामप्रसाद बिस्मिल एक ऐसा चरित्र है जिसने हिन्दुस्तान की आज़ादी के लिए मजबूत आधार तैयार किया। महज़ 30 वर्ष की आयु में उन्हें फ़िरंगियों के ख़िलाफ़ जंग छेड़ने के जुर्म में फाँसी का फंदा चूमना पड़ा। शंभुधन फोंग्लो भारतीय मातृभूमि में जन्मे ऐसे वीर नायक हैं जिनकी हुँकार आज भी नागालैंड में सुनाई पड़ती है। डिमासा जाति के वीर योद्धा थे शंभुधन जिन्होंने अंग्रेज़ों के ख़िलाफ़ मोर्चा खोलकर उन्हें देश से भागने के लिए मजबूर कर दिया और आंदोलन को एक नयी दिशा दी।

इस नाटक के निर्देशक सौरभ परिहार के अनुसार 'शंभुधन फोंग्लो' रंगभूमि पर पहली बार मंचित हुआ। भारत के क्रांतिकारियों के बारे में वे विगत दो वर्षों से अध्ययन कर रहे थे। नाटक में डिमासा जाति के त्यौहार, रस्म-रिवाज़, संस्कृति एवं अनुष्ठान से भी दर्शक परिचित हुए।

लौह पुरुष सरदार वल्लभभाई पटेल द्वारा भारत की स्वतंत्रता के लिए किये गये योगदान एवं राष्ट्र के पुनर्निर्माण में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका को रेखांकित करता नाटक दरअसल पटेल की शख़्सियत का पुनर्पाठ था। इसे वाराणसी के रामजी बाली ने बड़े ही मनोयोग से तैयार किया है। समारोह की छठी शाम राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय रंगमंडल, नयी दिल्ली के कलाकारों ने भारती शर्मा निर्देशित नाटक 'ख़ूब लड़ी मर्दानी: सुभद्रा की जुबानी' का मंचन किया। सुभद्रा कवियत्री ही नहीं थीं बल्कि स्वतंत्रता संग्राम में भी उनका अतुलनीय योगदान रहा। ग़ौर करने का पहलू ये है कि आज़ादी की लड़ाई में ऐसी अनगिनत वीरांगनाओं ने भाग लिया जिनसे देश आज भी अनभिज्ञ है। सुभद्रा कुमारी चौहान की जीवन कथा के साथ ही फूलो-झानो, उदा देवी, अज़ीज़न जैसी वीरांगनाओं की कथाओं को भी प्रस्तुति में रेखांकित किया गया।

'जनयोद्धा' की सातवीं और आख़िरी छवि एक ऐसे नायक के आदर्शों का बखान था जिन्हें इतिहास लोकमान्य तिलक के नाम से जानता-पहचानता है। आस्था कार्लेकर ने इस चरित्र को लयशाला रंग समूह पुणे के कलाकारों के साथ उद्घाटित किया। नृत्य और नाट्य की मिली-जुली शैलियों में निबद्ध यह प्रस्तुति तिलक के अनेक पहलुओं को स्वाधीनता के संदर्भों में उजागर करती रही।

छः नाटकों का एक नाटक

हैलो शेक्सपियर

ऑथेलो, मैकबेथ, हैमलेट जैसे नाटकों को एकल प्रस्तुतियों में देखने के दौरान जो भावनात्मक आवेग पैदा होते हैं, दिल और दिमाग जिस ग्रीकन ट्रेजडी के हाहाकार में डूबता उतर आता है, उन सभी मनोभावों और मनोवेगों का एहसास इस साझी प्रस्तुति में पूरी विराटता और पूरे आवेग के साथ मौजूद है।

'हैलो शेक्सपियर' परम्परा से हटकर एक प्रयोगधर्मी नाटक है। यह ऐसी कृति है जिसमें महँगे तामझाम वाले सैट, लाइट, डिज़ाइन या कॉस्ट्यूम ड्रामा वाला पारम्परिक आचार नहीं है। युवा कलाकार मंच पर रिहर्सल के लिये पहनकर आने वाले साधारण कपड़ों में ही यह नाटक अभिनीत कर सकते है। बड़ी बात ये है कि इस नाटक में शेक्सपियर के छह प्रमुख नाटकों का संयोजन है। ख़ुद शेक्सपियर मंच पर हैं। इस तरह से यह एक एजुकेशनल प्ले का भी उदाहरण भी है।

लेखक और वरिष्ठ मीडियाकर्मी शकील अख़्तर राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय में हुए 'ब्लू व्हेल: एक ख़तरनाक खेल' और 'मोनिया दि ग्रेट' जैसे नाटकों से चर्चा में आये थे। हालाँकि इससे पहले उनका हरिशंकर परसाई के एक व्यंग्य पर लिखा नाटक 'ये फ़िल्म है ज़रा हटके!' चल रहा था। नाटक के वरिष्ठ रंगकर्मी अरुण काटे के निर्देशन में ग्वालियर, मुम्बई सहित महाराष्ट्र और गुजरात में क़रीब 20 शोज़ हो चुके थे। 'ये फ़िल्म है ज़रा हटके' साठ से अस्सी के दशक के दौर में आने वाली स्टीरियो टाइप फ़िल्मों का प्रहसन ड्रामा था। इस नाटक में फ़िल्मी गानों की तरह ही आमोद भट्ट के संगीतबद्ध गीत थे। मंच पर दर्शक ठहाके लगाते हुए फ़िल्मों पर तंज़ और व्यंग्य की मार का मज़ा लेते थे। भाई-भाई या मुक़दमेबाज़ी जैसे दृश्यों वाली कई फ़िल्मों को याद करते थे। इसके बाद उन्होंने और भी नाटक लिखे। नये प्रयोगों और नवाचार के साथ। हाल ही में उनके लिखे देशभक्तिपूर्ण नाटक- 'जयहिंद सुभाष' में उन्होंने फिल्म स्क्रीन का सदुपयोग किया है। ताकि स्क्रीन का वर्चुअल मंच की तरह इस्तेमाल हो सके। साथ ही स्क्रीन पर ऐतिहासिक तस्वीरें आदि दिखाईं जा सकें। जैसे मंच के अभिनय दृश्य में जब नेताजी, हिटलर से मिलते हैं। तब स्क्रीन पर हिटलर के साथ उनकी मुलाक़ात की असली तस्वीर भी आकर चली जाती है।

अब बात 'हैलो शेक्सपियर' और उसके प्रायोगिक नवाचार की। 'हैलो शेक्सपियर'नाटक को शकील अख़्तर ने काफ़ी समय में लिखा। जब चार-बरस उन्होंने भारत रंग महोत्सव, दिल्ली में कुछ विदेशी नाटकों को देखा। उन्हें ऐसे नाटक भी देखने को मिले जिनमें दर्शकों को भी नाटक का हिस्सा बनाया जा रहा था। मंच पर ही पात्र अपनी पोशाकें बदलकर नये चरित्र निभा रहे थे। तब उनके लेखन को एक नई दृष्टि मिली। इस तरह के नाटकों के लेखन की मूल कल्पना राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय से प्रशिक्षित और थियेटर इन एजुकेशन के संस्थापकों में एक हफ़ीज़ ख़ान की थी। इसी दिशा में आगे बढ़ते हुये शकील अख़्तर ने शेक्सपियर के चर्चित नाटकों को लेकर काम शुरू किया। फिर नाटक में ख़ुद शेक्सपियर के बतौर अभिनेता और सूत्रधार एंट्री दी। वाक़ई लगभग डेढ़ से दो घंटे की मंचन अवधि के लिए तैयार किया गया नाटक बाल एवं शैक्षिक रंगमंच से सरोकार रखने वाले रंगकर्मियों के लिए तो किसी ख़ज़ाने से कम नहीं है। इस अद्‌भुत नाट्य कृति में दुनिया के सर्वश्रेष्ठ नाटकार विलियम शेक्सपियर के छह प्रमुख नाटकों के महत्वपूर्ण दृश्यों को प्रवाहमयी सूत्र में पिरोया गया है। जीन्स और टी शर्ट पहनकर और प्रतीकात्मक तरीक़े से भी इस नाटक को मंच पर अभिनीत किया जा सकता है। इस तरह से यह नाटक स्कूल, कॉलेज के साथ ही कोई भी कलाकार मंडली कम ख़र्च में आराम से खेल सकती है।

दुनिया का शायद ही कोई ऐसा रंगकर्मी हो जिसने अपने रंग जीवन का एक बड़ा हिस्सा शेक्सपियर के नाटकों के साथ न गुज़ारा हो। रंगकर्मियों के बीच सदियों से महान नाटकों के रूप में हैमलेट, ऑथेलो, रोमियो जूलियट, किंगलियर, मैकबैथ और जूलियस सीज़र जैसे विश्वविख्यात नाटक चर्चा का विषय रहे हैं। ये सभी नाटक अपने आपमें एक महान काव्य दर्शन हैं। एक समूचे युग बोध और युग दर्शन को अपने में समेटे हैं।

दुनिया का शायद ही कोई ऐसा रंगकर्मी हो जिसने अपने रंग जीवन का एक बड़ा हिस्सा शेक्सपियर के नाटकों के साथ न गुज़ारा हो। रंगकर्मियों के बीच सदियों से महान नाटकों के रूप में हैमलेट, ऑथेलो, रोमियो जूलियट, किंगलियर, मैकबैथ और जूलियस सीज़र जैसे विश्वविख्यात नाटक चर्चा का विषय रहे हैं। ये सभी नाटक अपने आपमें एक महान काव्य दर्शन हैं। एक समूचे युग बोध और युग दर्शन को अपने में समेटे हैं। ऑथेलो, मैकबेथ, हैमलेट जैसे नाटकों को एकल प्रस्तुतियों में देखने के दौरान जो भावनात्मक आवेग पैदा होते हैं, दिल और दिमाग जिस ग्रीकन ट्रेजडी के हाहाकार में डूबता उतर आता है, उन सभी मनोभावों और मनोवेगों का एहसास इस साझी प्रस्तुति में पूरी विराटता और पूरे आवेग के साथ मौजूद है। आश्चर्यजनक बात यह है कि एक ही नाटक में कई बार कोई एक दृश्य विधान या एक घटना बाकी सब पर इतनी हावी हो जाती है कि पूरा नाटक उसी के इर्द-गिर्द घूमने लगता है। लेकिन हैरानी की बात यह है कि इसमें छः कालजयी नाटकों को एक साथ पिरोया गया है, मगर कोई भी नाटक किसी दूसरे नाटक की छाया में न तो अपने प्रभाव को खोता है और न ही अपनी प्रभावी रंग दृश्यता से ओझल हुआ है। यह अतिश्योक्ति नहीं होगी अगर मैं कहूँ कि 'हैलो शेक्सपियर' पढ़ते हुए एक ही समय, एक ही मनःस्थिति में छह महान कालजयी कृतियों का एहसास होता है। - लोकमित्र गौतम

एक दिन कागज़ काले करते-करते अचानक मन हुआ, क्यों न कहानियों पर कुछ विडियो भी बनाए जाएँ। तीन मिनट का एक विडियो बनाया और कुछ अपनों को भेजा। उनमें से एक मल्टीनेशनल होटल के जनरल मैनेज़र थे। मैंने पूछा- ''विडियो देखा क्या, कैसा लगा दोस्त?'' वे बोले- ''सच कहूँ, आलोक जी! भागम-भाग के इस दौर में तीन मिनट का विडियो कोई देखता है क्या? हमारी मेरिएट होटल में गाइड लाइन है। हमें जब भी अपनी एक्टिविटी भेजना होता है, एक मिनट से उपर के विडियो की अनुमति ही नहीं है।'' उनकी इस बात ने मुझे भीतर तक आन्दोलित किया। नया करने के लिए तत्काल कुछ सूझा। मैंने कहा- ''एक मिनट भी क्यों? 59 सेकंड क्यों नहीं? और घड़ी मिलाकर 59 सेकंड के विडियो बनाकर नामकरण भी वही कर दिया- #59 Seconds। कहने का मतलब साफ़ है, बदलते दौर में समय के तकाज़े भी बदलते जा रहे हैं। या तो आप कुमार विश्वास, मनोज मुन्तज़िर, जावेद अख़्तर जैसे लोकप्रिय लेखक, वक्ता हों, तब तो आपको लम्बा सुना जाएगा, पढ़ा जायेगा। अगर आप ठीक-ठाक ही बोल रहे हैं तो लोग सोचें कि आपकी बात ख़त्म हो इससे पहले ही आप ख़ुद ही अपना बोलना समेट लें।

जाने कितने पुण्यों का फल है जो हिन्दी के मूर्धन्य कवि-सम्पादक एक भारतीय आत्मा पं. माखनलाल चतुर्वेदी की कर्मभूमि खंडवा में जन्म लिया। उनकी साहित्यिक विरासत का असर कुछ ऐसा रहा कि लिखने-पढ़ने और कहने के संस्कार मेरे भीतर भी चले आए। हिन्दी के प्रति गहरा अनुराग जागा। कलमकारों और कलाकारों की सोहबत में हर बार नए समय, समाज और उसके सामने खड़ी चुनौतियों से भी आँख मिलाने का मौक़ा मिलता रहा। ये दौर प्रगति के नाम पर संसार की बिलकुल नई तस्वीर को हमारे सामने पेश कर रहा है। बेशक़ ज़मीन दरक रही है। परिवर्तन भी सामने है, लेकिन ठीक से अपने वक़्त और अपने वजूद को ठीक से जाँचने की भी यह घड़ी है।

गुज़रे ज़माने में मोटे-मोटे ग्रन्थ, किताबें, नॉवेल पढ़े जाते थे। अब मुश्किल है। लोगों का आई क्यू भी अब इस लेवल तक आ गया है कि उन्हें न तो कोई लम्बी भूमिका की ज़रूरत है और न बातों की। अब तो

संस्कार और नवाचार

आलोक सेठी

जिस दौर में बप्पी लहरी अपने डिस्को की धूम मचा रहे थे उस समय भी बाल कवि बैरागी 'तू चन्दा मैं चाँदनी' और नीरज जी 'फूलों के रंग से दिल की कलम से' लिख गए। वे बेहद लोकप्रिय भी हुए, लेकिन उसके लिए हमें बाल कवि बैरागी, नीरज जी जैसी साधना भी करनी होगी क्योंकि साधना करने से ही सिद्धि आती है और सिद्धि से प्रसिद्धि।

उन्हें पूरा बग़ीचा इत्र की एक शीशी में चाहिए। क्वांटिटी के बजाए क्वालिटी का ज़माना आ गया है। अब उन्हें टाइम पास करने के लिए आपको सुनना या पढ़ना नहीं है। इसके लिए तो उनके पास ढेर सारे साधन आ गए हैं। अब तो उनके काम की बात सीमित शब्दों में चाहिए। आज का पाठक अख़बार में बड़ी कहानी देखकर अन्दर ही नहीं जाता है। लम्बे पाठ का उसका धीरज चुकता जा रहा है। हाँ, लघु कथाएँ, कहानियाँ, शेर-शायरी, स्लोगन, पंच लाईन पढ़ भी लेता है और उसे याद भी रह जाती है। किताबों के आकार-प्रकार में भी यही बात आ गयी है। पतली या छोटी साइज़ की कॉफ़ी टेबल बुक लाने-ले जाने, पढ़ने में आसान लगती है।

अगर हम चाहते हैं कि नयी पीढ़ी हमें सुने, पढ़े अंग्रेज़ी का रास्ता छोड़ कर हमारे साथ वापस आये, तो हमें मध्यम मार्ग अपनाना होगा। उनके जोश और हमारे होश, उनके नवाचार और हमारे संस्कार की जुगलबंदी से अपना एक नया राग जो हर कान को सुरीला कर दे। देश में हिन्दी साहित्य का वो गौरवशील युग वापस आ जाये जिसे हमने अपने बचपन में देखा, सुना था।

जब तक लेखक का बहुत बड़ा नाम नहीं हो, मोटी किताब देखकर वो घबरा जाता है। नए ज़माने में अब पाठक को फाँट्स या अक्षरों का आकार भी मोटा और बड़ा चाहिये ताक़ी उसकी आँखों पर ज़ोर नहीं पड़े। जिन्हें कम नम्बर या पास का ऐनक लगता है वे उसे बिना चश्मे के पढ़ सकें। यहाँ तक कि उस आर्टिकल में से जो बहुत महत्वपूर्ण बातें हों उन्हें बोल्ड अक्षर में या अलग रंग से लिखा होना उसे पसन्द आता है। भाषा में भी उसकी पसन्द बदली है। हमारा भाषाई सौष्ठव, छन्द, ज्ञान अलंकार, उपमाएँ, लटके-झटके अपनी जगह, पर नयी पीढ़ी का युवा पाठक अब आदित्य, दिनमान या भास्कर जैसे शब्दों का मतलब समझने के लिए दिमाग़ पर ज़ोर डालने से बचना चाहता है। वो तो कहता है मेरे लिए आप सीधे सूरज लिख दीजिये और साथ में काम की बात भी। डिक्शनरी खोलूँ और उसके समानार्थी या पर्यायवाची शब्द ढूँढूं, ना तो मेरे पास इतना समय है और ना ही धीरज। वो कहता है, मुझे तो हिन्दी से ज़्यादा हिन्दुस्तानी भाषा लुभाती है। अगर उसमें कुछ अंग्रेज़ी के शब्द आ भी जाएँ तो मुझे गुरेज़ नहीं है। मुझे तो बस, बात समझ में आनी चाहिए। हलक में से नीचे उतर गई तो दिल में उसे जगह मैं ख़ुद दे दूँगा।

...दरअसल ज़माना नए प्रयोगों का है। अमिताभ भट्टाचार्य के लिखे इस गाने को भी देख लीजिए.. केशरिया तेरा इश्क है पिया.. अन्तरा है- ''काजल की स्याही से लिखी है तूने ना जाने कितनों की लव स्टोरियाँ..'' इसमें केसरिया हिन्दी से आ गया, और इश्क़ उर्दू से, यहाँ तक भी ठीक था पर अमिताभ ने अंग्रेज़ी से स्टोरी शब्द उठाकर उसे हिन्दी से मिलाकर नया शब्द गढ़ दिया.. स्टोरियाँ.. है ना एकदम प्रयोगधर्मी गाना! तो क्या मतलब हम अपनी भाषा की शुद्धता छोड़ दें? सारा लेखन खिचड़ी कर दें? हमारी हिन्दी में अंग्रेज़ी, उर्दू, अरबी फ्रेंच का अतिक्रमण होने दें? हमारी समृद्ध परम्परा व्याकरण अलंकार, छन्द, रस सब को ताले में बन्द कर दें? जैसा पाठक नचाये वैसा नाचें? तो यह हमसे नहीं होगा। हम अपने संस्कारों, सिद्धांतों से समझौता नहीं कर सकते।

मेरे जैसा छोटा क़लमकार आपको इन नवाचार के लिए अपने संस्कार छोड़ने के लिए कह भी नहीं रहा। ऐसा है भी नहीं कि आज के इस दौर में भी अच्छी और शुद्ध हिन्दी पढ़ी या सुनी नहीं जा रही है। जिस दौर में बप्पी लहरी अपने डिस्को की धूम मचा रहे थे उस समय भी बाल कवि बैरागी 'तू चन्दा मैं चाँदनी' और नीरज जी 'फूलों के रंग से दिल की कलम से' लिख गए। वे बेहद लोकप्रिय भी हुए, लेकिन उसके लिए हमें बाल कवि बैरागी, नीरज जी जैसी साधना भी करनी होगी क्योंकि साधना करने से ही सिद्धि आती है और सिद्धि से प्रसिद्धि। हम बिना साधना के सिद्धि और प्रसिद्धि चाहते हैं। प्रसिद्धि हमें मिल तो जाती है पर लम्बे समय टिक नहीं पाती।

प्रश्न आता है फिर हमें क्या करना होगा? अगर हम चाहते हैं कि नयी पीढ़ी हमें सुने-पढ़े, अंग्रेज़ी का रास्ता छोड़ कर हमारे साथ वापस आये, तो हमें मध्यम मार्ग अपनाना होगा। उनके जोश और हमारे होश, उनके नवाचार और हमारे संस्कार की जुगलबन्दी से अपना एक नया राग जो हर कान को सुरीला कर दे। देश में हिन्दी साहित्य का वो गौरवशील युग वापस आ जाये जिसे हमने अपने बचपन में देखा, सुना था। यह नहीं कर पाए तो हमारी भाषा की दुर्दशा देख कर हमें मेराज़ फैज़ाबादी का यही शेर गुनगुनाना पड़ेगा-

''रिश्तों की कहकशाँ, सरे बाज़ार बेचकर/घर को बचा लिया, दर-ओ-दीवार बेचकर/जिसकी क़लम ने मुद्दतों बोए थे इंक़लाब/अब पेट पालता है वो अख़बार बेचकर''।

- hindustanabhikaran@yahoo.co.in

नई रंग ऊर्जा का खिलना

टैगोर राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय की प्रस्तुतियाँ

रंगमंच अगर प्रयोग की भूमि है तो पुस्तक, पाठ्यक्रम और सिद्धांत के सत्यापन के लिए वो एक खुली जगह है। टैगोर राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के प्रशिक्षु विद्यार्थियों ने इस अवधारणा को साकार करते हुए अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन किया।

लिहाज़ा पाठ्यक्रम में लगभग हर सेमेस्टर में सैद्धान्तिक कक्षाओं के साथ-साथ प्रायोगिक कक्षाओं और कक्षाभ्यास प्रस्तुतियों पर बहुत ध्यान दिया गया है। साथ ही हर सेमेस्टर में किसी भी एक फॉर्म पर आधारित एक बड़ी नाट्य प्रस्तुति ख़ास इसी मक़सद से रखी गई है कि रंग प्रशिक्षु की बुनियाद सिर्फ़ किताबी ज्ञान पर ना रहते हुए रंग कौशल पर रहे। इस सिलसिले में तीन बड़ी नाट्य प्रस्तुतियों के साथ देश के प्रतिष्ठित रंग विशेषज्ञों टीकम जोशी, सुखेश अरोरा, संजय सामंता, विक्रम मोहन, कन्हैयालाल कैथवास का सानिध्य विद्यार्थियों को प्राप्त हुआ।

दिल्लगी: टैगोर नाट्य विद्यालय द्वारा टैगोर विश्वकला एवं संस्कृति केन्द्र के सहयोग से नाटक 'दिल्लगी' की 14 एवं 15 जनवरी को रंगश्री लिटिल बैले ट्रूप सभागार में प्रस्तुति हुई। यह नाटक मौलियर के ड्रामा 'द डॉक्टर इनस्पाइट ऑफ़ हिमसेल्फ' पर आधारित है। निर्देशन कन्हैयालाल कैथवास ने किया। इस नाटक की प्रस्तुति के पीछे उद्देश्य था विद्यार्थियों को फार्स थियेटर शैली एवं क्लाउन शैली से परिचय एवं अभ्यास। कन्हैयालाल ने नाटक के गीत-संगीत, लेखन, अंग गति, बैक स्टेज वर्क जैसे प्रॉपर्टी मेकिंग, वस्त्र विन्यास, रूप सज्जा का भी बखूबी इस्तेमाल करना सिखाया।

ग़ौरतलब है कि इस नाटक की संरचना कॉमेडिया डेल आर्ट के सिद्धांत पर आधारित है। इसमें भारतीय विदूषकीय तत्वों का भी बख़ूबी इस्तेमाल किया निर्देशक ने। आंचलिक संस्कृति के तत्व भी दिखाई दिए। जो कहीं न कहीं अभिनेताओं की अंग गतियों के माध्यम से, कोरस के रूप में आपको दिखाई पड़ते हैं साथ ही नाटक को बांधे रखने के लिए ये ज़रूरी तत्व की तरह प्रयोग में लाए गए दिखाई देते हैं। पूरे नाटक में गीत-संगीत का बहुत ही ख़ूबसूरती से उपयोग किया गया जो कहानी के साथ गूँथा हुआ-सा लगता है। इस प्रस्तुति के लिए गीतों को विद्यार्थियों ने ही लिखा और साथ ही उसे लयबद्ध भी किया। पूरे नाटक को इम्प्रोवाईजेशन के तहत समझने और उसे समसामयिक परिस्थितियों में ढालने का प्रयास किया जो तीखे व्यंग्य और हँसी ठिठोली के साथ एक सन्देश भी देता है। यह नाटक प्रेमकथा पर आधारित है। नायिका जो कि एक रईस

ख़ानदान से ताल्लुक़ रखती है और वहीं नायक कला के क्षेत्र में संघर्षरत हैं। दोनों एक दूसरे से बेइन्तहा मोहब्बत करते हैं। इक्कीसवीं सदी में पैसों और प्यार के इस प्रतिस्पर्धा में जीत किसकी हो सकती हैं ये सवाल उठता है।

कर्णभारम्: टैगोर राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के प्रथम सेमेस्टर में भारतीय शास्त्रीय रंगमंच की कक्षाभ्यास प्रस्तुति के तहत 1 फरवरी को महाकवि भास द्वारा रचित नाटक 'कर्णभारम' एवं 'मध्यम व्यायोग' का मनोज नायर के निर्देशन में मंचन किया गया। लगभग सवा घंटे की इन दोनों नाट्य प्रस्तुतियों को टैगोर राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय परिसर के नवनिर्मित मुक्तधारा सभागार में किया गया। इस प्रस्तुति के दौरान मंच निर्माण पूरी तरह विद्यार्थियों द्वारा ही तैयार की गई थी। साथ ही प्रॉपर्टी, कॉस्ट्युम एवं प्रकाश व्यवस्था की बागडोर भी विद्यार्थियों के ही हाथ में थी। नाटक में दृश्य रचना बहुत ही सुन्दर एवं सारगर्भित थी। टैगोर राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के निदेशक मनोज नायर का निर्देशकीय कौशल अद्भुत दृश्य रचना एवं कर्णप्रिय संगीत के लिए पहचाना जाता है। ब्लैक बॉक्स में वे रंगों का बहुत ही सुंदर तरीके से उपयोग दृश्यों एवं उनके भावों को उभारने के लिए करते हैं। दोनों ही नाटकों को कक्षाभ्यास प्रस्तुति के लिए तैयार करते समय हर पात्र को उनकी विशिष्ट देह गतियों, सम्वाद शैली एवं चरित्रों को आत्मसात करने पर बहुत ध्यान दिया गया। आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक अभिनय शैली के साथ चित्राभिनय को भी शामिल किया गया।

कर्णभारम् में कर्ण की दानशीलता की गाथा बहुत ही मार्मिकता से दिखाई गई है। जब कर्ण युद्ध के लिए शल्य के साथ प्रस्थान कर रहे होते हैं तब वे विगत स्मृतियों में जाकर अपनी बातें शल्य को सुनाते हैं कि किस तरह उनके सत्कर्म एवं दानशीलता ही उनके लिए अभिशाप बन जाती है। वे इस सत्य को जानते है कि उनके साथ छल किया जा रहा है फिर भी वे ख़ुशी-ख़ुशी अपने सबसे बड़े रक्षा कवच एवं कुण्डल दान दे देते हैं।

मध्यम व्यायोग: मध्यम व्यायोग की कथा भीम, घटोत्कच और हिडिम्बा के आस-पास घूमती है। हिडिम्बा अपने पुत्र घटोत्कच को अपने भोजन के लिए एक मानव को लाने की आज्ञा देती है। घटोत्कच वन में से जा रहे एक ब्राम्हण के मध्यम पुत्र को पकड़ लेता है। किसी तरह उसका सामना भीम से होता है। भीम से संघर्ष के दौरान भीम को ज्ञात होता है कि ये उसका पुत्र है। फिर हिडिम्बा से भीम की मुलाकात होती है और नाटक का सुखान्त होता है। - **विक्रांत भट्ट**

'लिखंदरा' में परिसम्वाद

मध्यप्रदेश जनजातीय संग्रहालय भोपाल की लिखंदरा दीर्घा की मासिक परिसम्वाद श्रृंखला में जनजातीय लोक कला एवं बोली विकास अकादमी, मध्यप्रदेश जनजातीय संग्रहालय, भोपाल एवं शासकीय महारानी लक्ष्मीबाई कन्या स्नातकोत्तर (स्वशासी) महाविद्यालय, भोपाल के सहयोग से दो दिवसीय परिसम्वाद का आयोजन किया गया। इस अवसर पर लोक एवं जनजातीय कला विशेषज्ञ धमेन्द्र पारे ने कहा कि पहले जब भी लोक संस्कृति, विमुक्त एवं घुमन्तू समुदाय पर बात करते थे, तो बात करने वाले को पिछड़ा माना जाता था। लोग इन विषयों पर बात नहीं करना चाहते थे, लेकिन वर्तमान में शासन, प्रशासन एवं अकादमी के द्वारा इन विषयों पर विमर्श किया जा रहा है। महाविद्यालय की प्राचार्य ममता चंसोरिया ने कहा कि प्राचीन काल से ही मालवा की संस्कृति समृद्ध रही है। यहाँ की बोली, भाषा, परम्परा, संस्कृति सुभावन है। उन्होंने बुन्देली लोक कथा भी सुनाई। मुख्य वक्ता शैलेंद्र शर्मा ने कहा कि आज नई पीढ़ी को लोक संस्कृति सहेजने के लिये आगे आना चाहिये। मालवा संस्कृति ने संस्कृति, भाषा, कथा एवं परम्परा को आत्मसात किया है। मनुष्य जन्म से अनगढ़ है और उसको पशुत्व से दूर करने का काम संस्कृति करती है।

अम्बेडकर पर पुस्तक

मनुष्य जीवन जितना कसौटी के ऊपर कसा जाता है उससे उतनी अधिक सफलता प्राप्त होती है इसका उदाहरण राष्ट्र ऋषि भीमराव अम्बेडकर हैं। मध्यप्रदेश की संस्कृति पर्यटन मंत्री उषा ठाकुर ने 'राष्ट्र ऋषि बाबा साहब डॉक्टर भीमराव अंबेडकर' पुस्तक के विमोचन अवसर पर कही। उन्होंने कहा कि निखिलेश महेश्वरी की यह पुस्तक परिश्रम और अनुसंधान से लिखी गई है। कार्यक्रम मध्यप्रदेश जनजातीय संग्रहालय के सभागार में अर्चना प्रकाशन न्यास के निर्देशन में आयोजित किया गया। कार्यक्रम की अध्यक्षता कर रहे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के प्रांत माननीय संघचालक अशोक पांडे ने कहा कि अंबेडकर मानव से महामानव की श्रेणी में आते हैं। कार्यक्रम का संचालन शिरोमणि दुबे एवं आभार अर्चना प्रकाशन के प्रबंध न्यासी माधव सिंह दांगी ने माना।

छाऊ नृत्य की प्रस्तुति

स्पिक मैके भोपाल चैप्टर द्वारा बंगाल के कलाकारों द्वारा आईईएस यूनिवर्सिटी और जवाहर नवोदय विद्यालय में पुरुलिया छाऊ नृत्य की प्रस्तुति दी गई। छाऊ दरअसल पूर्वी भारत की अर्धशास्त्रीय नृत्य विधा है जिसका उद्भव जनजातीय और लोक है। यह नृत्य तेज़ गति और ऊर्जा से भरा होता है जिसमें धार्मिक और पौराणिक विषयवस्तु पर आधारित नृत्य प्रस्तुतियाँ की जाती हैं।

प्रस्तुति में 16 कलाकारों ने अपनी गति, सामंजस्य और नृत्य से समां बाँधा। पुरुलिया छाऊ पश्चिम बंगाल के पुरुलिया ज़िले का पारम्परिक नृत्य है। कलाकारों ने मोतियों से सज्जित मिट्टी के मुकुट और आकर्षक परिधान को पहनकर नृत्य किया जिसे गणेश छाऊ डांस पार्टी, ग्राम शीतलपुर ज़िला पुरुलिया, पश्चिम बंगाल के कलाकारों ने पेश किया। सभी कलाकार महतो समुदाय के थे जिनकी कई पीढ़ियाँ बरसों से छाऊ करती आ रही हैं। 5 से 6 किलो के मुखौटे और 9 किलो वजनी परिधान में कलाकारों को मंच पर देखना विलक्षण अनुभव था।

नृत्य की थीम शिव पुराण से लिए गए महिषासुर वध प्रसंग से ली गई। असुर राजा महिषासुर देवताओं के राजा इंद्र से अपने पिता के वध का बदला लेने का प्रण करता है। अपनी अपार मायावी शक्तियों से वो इंद्र और अन्य देवताओं को स्वर्ग से खदेड़ देता है। यहाँ तक कि वो इंद्र की पत्नी शची को बंदी बना लेता है। महिषासुर और अन्य किरदार मनमोहक नृत्य करते हैं और एक-एक कर देवताओं को पराजित करते जाते है। वो अलग-अलग रूप बदलते रहते हैं। इसके बाद अंततः महामाया महिषासुर का वध कर देवताओं की रक्षा करती हैं।

धर्मपाल के अवदान पर राष्ट्रीय संगोष्ठी

इतिहास विषय मानविकी और उदार कला विभाग, रबीन्द्रनाथ टैगोर विश्वविद्यालय तथा धर्मपाल शोधपीठ, स्वराज संस्थान, भोपाल के संयुक्त तत्वावधान में आजादी के अमृत महोत्सव एवं धर्मपाल जन्मशताब्दी वर्ष के महत्वपूर्ण अवसर पर 'धर्मपालः स्वदेशी एवं स्वराज की अवधारणा' विषय पर दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन 19-20 अक्टूबर विश्वविद्यालय के शारदा सभागार में किया गया। संगोष्ठी का उद्घाटन म.प्र. विधानसभा के अध्यक्ष माननीय गिरीश गौतम ने किया। उद्घाटन सत्र में गिरीश गौतम, रामेश्वर मिश्र पंकज, मुकेश मिश्रा, अमित राय, विनय उपाध्याय ने अपने विचार व्यक्त किये।

युवा आलोचक अरुणेश शुक्ल ने कार्यक्रम की संकल्पना के बारे में बताते हुए कहा कि यह संगोष्ठी धर्मपाल जी के विचारों को आज की परिस्थितियों में भारतीय दृष्टि से समझने का एक विनम्र प्रयास है। विषय प्रवर्तन करते हुए रामेश्वर मिश्र 'पंकज' ने भारतीय इतिहास व भारत बोध को समझने का प्रयास करने पर बल देते हुए धर्मपाल के विचारों से प्रेरणा लेने की बात कही। अमित राय ने स्वदेशी व स्वराज को परिभाषित करते हुए धर्मपाल के लेखन पर विस्तृत बातचीत की। मुकेश मिश्रा ने भारतीय इतिहास के पुनर्लेखन पर बल दिया। म.प्र. विधानसभा अध्यक्ष गिरीश गौतम ने भारतीय धर्म, दर्शन परम्परा को समझते हुए लेखन व विचार की ज़रूरत पर प्रकाश डाला। उन्होंने युवाओं से रचनात्मक भागीदारी बढ़ाने की भी बात कही। इस सत्र की अध्यक्षता करते हुए संतोष चौबे, कुलाधिपति, रबीन्द्रनाथ टैगोर विश्वविद्यालय भोपाल ने धर्मपाल की अध्ययन पद्धति व विचारों को जीवन में लागू करने की ज़रूरत पर बल दिया। संचालन विनय उपाध्याय ने किया। धन्यवाद संगीता जौहरी ने माना।

संगोष्ठी का दूसरा सत्र 'इतिहास लेखन की भारतीय दृष्टि और धर्मपाल' विषय पर केन्द्रित था। इस सत्र में कुमार मंगलम, जगन्नाथ दुबे, आशुतोष, राकेश कुमार मिश्रा ने अपने सुचिन्तित वक्तव्य प्रस्तुत किये। सत्र की अध्यक्षता अवधेश मिश्र ने की। संगोष्ठी का तीसरा सत्र 'भारतीय चित्त, मानस और काल का पुनराविष्कार', विषय पर केन्द्रित था। इस सत्र में अरुणाभ सौरभ, दीपशिखा सिंह, सुशील सुमन ने अपने वक्तव्य दिये। सत्र की अध्यक्षता मिथिलेश तिवारी ने की। समापन सत्र 'उत्तर आधुनिकता बनाम भारतीय विश्वदृष्टि' विषय पर केन्द्रित था। इस सत्र में विशिष्ट अतिथि के रूप में रवीन्द्र कान्हारे जी पूर्व कुलपति इग्नू तथा चेयरमैन ए.एफ.आर.सी. मध्यप्रदेश उपस्थित थे। सत्र की अध्यक्षता शिक्षाविद् अमिताभ सक्सेना ने की। इस सत्र में अरुणेश शुक्ल, सत्यम सिंह, चित्रा माली ने भी अपने विचार व्यक्त किए। हर्षवर्धन सिंह तोमर व सर्वेश सिंह ने भी इस सत्र में अपना सुचिन्तित वक्तव्य दिया। कान्हारे जी ने भारत बोध की पहचान पर बल देते हुए स्वराज की अवधारणा को वर्तमान सन्दर्भों में देखने व समझने की बात की। अध्यक्षीय वक्तव्य में अमिताभ सक्सेना ने 'स्व' की पहचान पर बल दिया। धन्यवाद विजय सिंह, कुलसचिव रबीन्द्रनाथ टैगोर विश्वविद्यालय ने दिया। कार्यक्रम का समन्वय व संयोजन इतिहास की सह. आचार्य सावित्री सिंह परिहार ने किया। प्रत्येक सत्र में शोधार्थियों ने शोध पत्रों का वाचन भी किया। - **सावित्री सिंह परिहार**

प्रवासी दिवस:
हिन्दी के विस्तार की चर्चा

रबीन्द्रनाथ टैगोर विश्वविद्यालय में प्रवासी भारतीय साहित्य एवं संस्कृति शोध केन्द्र की ओर से 'विश्व में हिन्दी, हिन्दी का विश्व' विषय पर परिसंवाद का आयोजन किया गया। मुख्य अतिथि नारायण कुमार, मानद निदेशक अन्तरराष्ट्रीय सहयोग परिषद, दिल्ली एवं विशिष्ट अतिथि के रूप में शिव कुमार सिंह, प्राध्यापक (भारतीय अध्यापन और हिन्दी), लिस्बन विश्वविद्यालय, पुर्तगाल उपस्थित थे। कार्यक्रम की अध्यक्षता संतोष चौबे, कुलाधिपति, रबीन्द्रनाथ टैगोर विश्वविद्यालय ने की।

इस मौक़े पर नारायण कुमार ने कहा कि विश्व हिन्दी दिवस और विश्व हिन्दी सम्मेलन हिन्दी भाषा को वैश्विक फ़लक प्रदान करता है। इसके अलावा उन्होंने कहा कि हिन्दी का विश्व सिर्फ़ हिन्दी भाषी और भारतीयों से ही नहीं बनता इसको फ्रेंच, डच, पुर्तगीज जैसे देशों ने भी सम्भव बनाया। उन्होंने कहा कि गिरमिटिया देशों में हिन्दी का वैविध्य काफ़ी बड़ा रहा। आज प्रशासनिक स्तर पर हिन्दी में पढ़ने वालों को रोज़गार उपलब्ध कराने की दिशा में काम करने की आवश्यकता है।

शिव कुमार सिंह ने कहा कि अंतरराष्ट्रीय मानक पर हिन्दी विश्व भाषा के रूप में खरी उतरती है। इसीलिए हिन्दी को विश्व की हिन्दी भाषा कहना अतिश्योक्ति नहीं होगी। उन्होंने कहा कि हिन्दी को शिक्षा प्रणाली से अलग भी देखे जाने की ज़रूरत है। आज ज़रूरत है हिन्दी को व्यापार की भाषा, रोज़गार की भाषा, तकनीक की भाषा बनाने की। वहीं कार्यक्रम की अध्यक्षता कर रहे संतोष चौबे ने कहा कि भाषा का फैलाव सांस्कृतिक विस्तार से होता है। इसके अलावा उन्होंने कहा कि भारतीय ज्ञान परम्परा और जीवन शैली जैसे-जैसे स्वीकार्य होगी भारतीय भाषा का विस्तार उसी अनुरूप में होगा।

कार्यक्रम में टैगोर विश्व कला एवं संस्कृति केन्द्र की बहुचर्चित सांस्कृतिक पत्रिका 'रंग संवाद' के विशेषांक दोनों प्रवासी लेखकों को भेंट किए गए। उन्होंने इस पत्रिका की उपयोगिता को रेखांकित करते हुए कहा कि भारत और अन्य देशों के बीच सांस्कृतिक समन्वय का काम रंग संवाद के माध्यम से हो सकता है। विश्वविद्यालय के प्रवासी भारतीय साहित्य एवं संस्कृति शोध केन्द्र के सलाहकार जवाहर कर्णावट ने कार्यक्रम का संचालन किया। प्रवासी केन्द्र की ओर से कार्यक्रम का समन्वयन मौसमी परिहार ने किया। आभार अधिष्ठाता संगीता जौहरी ने व्यक्त किया। - **मौसमी परिहार**

राष्ट्रीय सम्मानों से
विभूषित हुई विभूतियाँ

गणतंत्र के सांस्कृतिक पर्व 'लोकरंग' में म.प्र. शासन संस्कृति विभाग के राष्ट्रीय सम्मान से साहित्य विभूतियों को विभूषित किया। म.प्र. के राज्यपाल मंगूभाई पटेल ने विमुक्त एवं घुमन्तू विषय पर केन्द्रित प्रदर्शनी का अवलोकन कर समुदाय की संस्कृति को भी करीब से जाना। संस्कृति, पर्यटन, धार्मिक न्यास और धर्मस्व मंत्री उषा ठाकुर, संस्कृति संचालक अदिति कुमार त्रिपाठी भी मौजूद थे।

राज्यपाल और संस्कृति मंत्री ने राष्ट्रीय कबीर सम्मान वर्ष 2021 से निबंधकार-आलोचक श्याम सुन्दर दुबे को राष्ट्रीय मैथिली शरण गुप्त सम्मान से हिन्दी साहित्य के शोधपरक लेखन के लिए सदानंद प्रसाद गुप्त को राष्ट्रीय शरद जोशी सम्मान वर्ष 2021 से ललित निबंध के क्षेत्र में प्रासंगिक अध्ययनपरक तथा अभिव्यक्ति के लिए श्रीराम परिहार को विभूषित किया। इस अवसर पर राष्ट्रीय इक़बाल सम्मान सैयद तक़ी हसन आबिदी की अनुपस्थिति में उनके प्रतिनिधि को प्रदान किया गया। राष्ट्रीय नानाजी देशमुख सम्मान से संस्था जनजाति कल्याण केन्द्र महाकोशल, बरगाँव डिण्डोरी को समाज सेवा के क्षेत्र में बुनियादी एवं सार्थक सरोकारों को केन्द्र में रखकर किये जा रहे व्यावहारिक कार्यों के लिए विभूषित किया। इस मौके पर संस्कृति विभाग के एम.पी. कल्चर एप का शुभारम्भ किया गया। समारोह का संचालन विनय उपाध्याय ने किया।

चरैवेति: लोकरंग में शुभारंभ दिवस 26 जनवरी को राजस्थान के घुमन्तू समुदाय के कालबेलिया समुदाय के जीवन पर एकाग्र 'चरैवेति' समवेत नृत्य नाटिका की प्रस्तुति हुई। इसमें कालबेलिया समुदाय की जीवन परम्परा, संस्कृति को दिखाया गया। नृत्य नाटिका का निर्देशन भोपाल के ख्यात रंगकर्मी और अभिनेता रामचंद्र सिंह ने किया। प्रस्तुति में लगभग 100 कलाकारों ने प्रदर्शन किया। नाटिका में सूत्रधार के रूप में ख्यात अभिनेत्री हिमानी शिवपुरी शरीक हुईं। नृत्य नाटिका का आलेख योगेश त्रिपाठी, रीवा और अदिति गौड़, भोपाल द्वारा तैयार किया गया।

लोक एवं जनजातीय संस्कृति के विहंगम को संजोते इस अड़तीसवाँ लोक रंग का ताना-बाना एक बार फिर महानगर के बाशिंदों के लिए अनूठी सौग़ात साबित हुआ। पारम्परिक शिल्पों के साथ दूर-दराज के शिल्पकार लोकरंग में शामिल हुए तो दूसरी ओर नृत्य और संगीत की सदियों पुरानी विरासत के अलहदा रंगों को आत्मसात करते सैकड़ों नर्तकों ने रवीन्द्र भवन के परिसर को गुलज़ार किया। - **दीपक पगारे**

साहित्य की विश्व दृष्टि में
करुणा और प्रेम

अमल कॉलेज ऑफ एडवांस्ड स्टडीज़, निलंबूर केरल द्वारा 23-24-25 जनवरी को अमलिट-2 के तहत एक राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन 'साहित्य और विश्व दृष्टि' विषय पर किया गया। तीन दिवसीय यह संगोष्ठी अमल कॉलेज के संगोष्ठी कक्ष में आयोजित की गई। अमलिट-2 का मेन थीम 'टूर्वड्स ज़ीरो फॉर अ स्टनेबल टुमारो' था। अलग-अलग सत्रों में वक्ताओं ने अपनी बात रखी। रबीन्द्रनाथ टैगोर विश्वविद्यालय भोपाल इस संगोष्ठी के सह आयोजकों में शामिल था।

संगोष्ठी के उद्घाटन सत्र में बीज वक्तव्य वरिष्ठ कहानीकार व वनमाली सृजनपीठ भोपाल के अध्यक्ष मुकेश वर्मा ने दिया। अपने विस्तृत वक्तव्य में वर्मा ने विश्व दृष्टि निर्माण की राजनीति को रेखांकित करते हुए यह बताया कि साहित्य की विश्व दृष्टि किस तरह समाज में करुणा व प्रेम का प्रसार करने वाली होती है। रबीन्द्रनाथ टैगोर विश्वविद्यालय, भोपाल में हिन्दी के सहायक प्राध्यापक व अनुवाद केन्द्र के समन्वयक युवा आलोचक अरुणेश शुक्ल ने अपने वक्तव्य में साहित्य के विश्वदृष्टि की विशेषता को रेखांकित करते हुए कहा कि आज साहित्य की विश्व दृष्टि को निर्मित व नियंत्रित करने की कोशिश सत्ता व बाज़ार कर रहा है। महात्मा गांधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय वर्धा में गांधी एवं अहिंसा अध्ययन विभाग में सह आचार्य व युवा कहानीकार राकेश मिश्र ने अपने विचारोत्तेजक वक्तव्य में हमारी केन्द्र होती जा रही सम्वेदना व सिमटती विश्व दृष्टि पर बात की। गवर्नमेंट आर्ट्स एंड साइंस कॉलेज में सह आचार्य प्रिया पी. ने मनोविश्लेषण के आधार पर विश्व दृष्टि में क्या बदलाव आये हैं, यह किस तरह की मानसिकता से नियंत्रित हो रही है, इस पर विशद चर्चा की। सत्र की अध्यक्षता कालिकट विश्वविद्यालय में हिन्दी के आचार्य वी.के. सुब्रमण्यम ने की। अपने अध्यक्षीय वक्तव्य में उन्होंने उत्तर आधुनिकता के बहाने विश्व दृष्टि को रेखांकित किया।

आगे के सत्रों में हरप्रीत कौर ने अनुवाद व विश्व दृष्टि, वीना सुमन ने विचारधारा, साहित्य और विश्व दृष्टि, सुमित्रा मिश्रा ने प्रवासी साहित्यकारों की विश्व दृष्टि पर गम्भीर वक्तव्य दिये। केरल विश्वविद्यालय में हिन्दी के सह आचार्य हरमन पी.जे. ने प्लेग, लव इन द टाइम ऑफ कालरा आदि उपन्यासों का सन्दर्भ लेते हुए भारतीय और पाश्चात्य विश्व दृष्टि की एकता को रेखांकित किया। इस संगोष्ठी में देशभर के पैंतालिस से ज़्यादा शोधार्थियों ने शोध पत्र प्रस्तुत किये। कार्यक्रम का सफल संयोजन अमल कॉलेज में हिन्दी की सहायक प्राध्यापक शहला के.पी. ने किया। इस अवसर पर वनमाली सृजन पीठ भोपाल के अध्यक्ष मुकेश वर्मा ने वनमाली सृजन केन्द्र, अमल कॉलेज में खोलने की घोषणा की, जिसका संयोजक डॉ. शहला को बनाया गया। यह केन्द्र वनमाली सृजन पीठ की साहित्यिक, सांस्कृतिक गतिविधियों का विस्तार केरल में करेगा। इसी क्रम में कालिकट में भी सृजन केन्द्र खोलने की चर्चा हुई। - **अरुणेश शुक्ल**

कविता में गूँजा
गणतंत्र

राष्ट्र कवि श्रीकृष्ण 'सरल' को समर्पित मध्यप्रदेश लेखक संघ की प्रादेशिक राष्ट्रभक्ति काव्य गोष्ठी गीत गणतंत्र का आयोजन हिन्दी भवन भोपाल में किया गया। ओज के कवि पँवार राजस्थानी के मुख्य आतिथ्य, साहित्यकार धर्मेन्द्र शर्मा 'सरल' के सारस्वत आतिथ्य तथा संघ के प्रदेशाध्यक्ष राम वल्लभ आचार्य की अध्यक्षता में गोष्ठी सम्पन्न हुई।

इस अवसर पर पँवार राजस्थानी, राम वल्लभ आचार्य, सुरेन्द्र जैन सरस, मोहन तिवारी 'आनन्द', दिनेश मालवीय, अर्जुन दास खत्री, क्षमा पाण्डेय, कमल किशोर दुबे, विकास लोया, रूपाली सक्सेना, अभिषेक जैन 'अबोध' एवं सुशील 'गुरु' ने अपनी ओजस्वी वाणी में राष्ट्र चेतना के स्वर मुखरित किये। गीतकार दिनेश मालवीय ने वतन परस्ती का निहायत नया रंग घोलता गीत प्रस्तुत किया- ''मेरा हर इक वचन तिरंगा, जतन तिरंगा हो जाये/गीत-ग़ज़ल में हिन्दुस्ताँ हो, भजन तिरंगा हो जाये।'' इस गमक को पुरज़ोर करते हुए अभिषेक जैन 'अबोध' की शिरक़त भी अनूठी थी- ''दूर देश का कोना-कोना, राष्ट्र रंग अभिरंजित है/आर्यवर्त की गौरवगाथा, युगों-युगों से मण्डित है''।

पँवार राजस्थानी ने पढ़ा- ''कोख बाँझ हो जायेगी यदि बलिदान नहीं होगा,/कविता मुजरा हो जायेगी यदि स्वाभिमान नहीं होगा।'' राम वल्लभ आचार्य की रचना थी- ''हर तरफ़ व्यूह फैले हैं षड़यन्त्र के/और हम गा रहे गीत गणतन्त्र के॥'' क्षमा पाण्डेय ने समता का भाव रचते हुए पढ़ा- ''आज देश ने संविधान को अंगीकार किया था।/मातृभूमि ने समता से सब ही को प्यार दिया था।''

इस अवसर पर श्रीकृष्ण सरल के पौत्र अभिषेक सरल ने सरल जी की रचना का भावपूर्ण पाठ किया। धर्मेन्द्र सरल ने अपने पिता के रोचक और प्रेरक संस्मरण सुनाये। गोष्ठी का संचालन साहित्यकार गोकुल सोनी ने किया। राजेन्द्र गट्टानी ने स्वागत उद्बोधन दिया। प्रभुदयाल मिश्र ने आभार माना। - **प्रीति खरे**

बंगभूमि पर रौशन हुईं रुपहली छवियाँ

किसी अन्तरराष्ट्रीय फ़िल्म महोत्सव में शामिल बेहतरीन फ़िल्मों को देखना उस देश की संस्कृति, भाषा और भूगोल को भी देखने जैसा है। इस लिहाज़ से कोलकाता में 15 से 22 दिसंबर, 2022 तक चला 28वाँ कोलकाता अन्तरराष्ट्रीय फ़िल्म समारोह (केआईएफएफ-2022) कई स्तर पर अनूठा था। फ़िल्म महोत्सव में 42 देशों की 183 फ़िल्में थीं। उद्घाटन समारोह में बंगाल और बॉलीवुड की तमाम बड़ी हस्तियाँ शामिल थीं। उद्घाटन अमिताभ बच्चन ने कोलकाता के नेताजी इंडोर स्टेडियम में किया। बंगाल की मुख्यमंत्री ममता बनर्जी, जया बच्चन, बंगाल के ब्रांड एंबेसडर अभिनेता शाहरुख़ ख़ान, निर्देशक महेश भट्ट, रानी मुखर्जी, सांसद और अभिनेता शत्रुघ्न सिन्हा, बांग्ला सिनेमा के स्टार अभिनेता प्रसेनजीत चटर्जी और गायक अरिजीत सिंह समेत अनेक सितारा शख़्सियतें मौजूद रहीं। समारोह आठ दिनों तक चला। दस प्रेक्षागृहों में 42 देशों की 183 फ़िल्में दिखाई गईं।

फ़िल्मोत्सव में कई खण्डों में अन्तरराष्ट्रीय प्रतियोगिता की गईं। भारतीय भाषाओं की फ़िल्मों की प्रतियोगिता, अन्तरराष्ट्रीय स्क्रीनिंग, शताब्दी श्रद्धांजलि, विशेष श्रद्धांजलि, खेल से सम्बन्धित फ़िल्में, भारत में दुर्लभ भाषाओं का सिनेमा, बंगाली पेनोरमा और शॉर्ट एंड डॉक्यूमेंट्री खण्ड। फ्रांस के मशहूर फ़िल्मकार ज्यां लुक गोदार और महानायक अमिताभ बच्चन पर इस अन्तरराष्ट्रीय फ़िल्मोत्सव में दो प्रदर्शनी भी थीं। इन दोनों प्रदर्शनी को देखना कई मायनों में अनूठा था। फ़िल्मकार ज्यां लुक गोदार की फ़िल्मों के बारे में भरपूर जानकारी थी उनकी दुर्लभ तस्वीरों के साथ। उसी तरह अमिताभ बच्चन की भी समूची फ़िल्मों की सूचना और उनसे सम्बन्धित जानकारी थी। यह प्रदर्शनी इस बात की भी गवाही बनती है कि हमारे समय में सितारा छवियाँ गढ़ने वाले सिने किरदारों की यात्रा के पड़ाव उनकी बेशुमार रचनात्मक सम्भावनाओं और संघर्षों से होकर गुज़रती रही है। यह भी कि दर्शकों के अपार स्वीकार ने ही उन्हें सितारा हैसियत बख़्शी है।

समारोह के आख़िरी दिन फ़िल्मों को पुरस्कार दिया गया। प्रतियोगिता खण्ड के तहत भारत की नेहा शर्मा को उनकी डॉक्यूमेंट्री 'द अनसेटल्ड शेड' को सर्वश्रेष्ठ भारतीय डॉक्यूमेंट्री का पुरस्कार दिया गया। इसी तरह, सर्वश्रेष्ठ भारतीय लघु फ़िल्म का पुरस्कार असम के नबापन डेका की फ़िल्म 'शून्यता' और प्रसेनजीत चौधरी की फ़िल्म 'द डिवाइन टच' को दिया गया। सर्वश्रेष्ठ भारतीय लघु फ़िल्म का पुरस्कार प्रत्यय साहा की फ़िल्म 'मैं महमूद' को मिला। सर्वश्रेष्ठ फ़िल्म का 'नेटपेक एवार्ड' तज़ाकिस्तान की फ़िल्म 'डोव' को मिला। मुईद्दीन मुज्ज़फ़्फ़र इस फ़िल्म के निर्देशक थे। स्पेशल जूरी पुरस्कार भारतीय भाषा की फ़िल्म 'छाद' (द टेरैस) और असम की फ़िल्म 'सिकाईसाल' को दिया गया। भारतीय भाषा की फ़िल्म 'नानेरा' को 'हीरालाल सेन स्मृति' पुरस्कार मिला। बतौर सर्वश्रेष्ठ निर्देशक दीपंकर प्रकाश ने यह पुरस्कार ग्रहण किया। सर्वश्रेष्ठ फ़िल्म का 'हीरालाल सेन स्मृति' पुरस्कार भास्कर मोर्या को उनकी फ़िल्म 'मुथ्थैया' के लिए दिया गया।

अन्तरराष्ट्रीय प्रतियोगिता के तहत स्पेशल जूरी पुरस्कार ईरान की फ़िल्म 'साइलेंट ग्लोरी' को दिया गया। सर्वश्रेष्ठ निर्देशक का पुरस्कार 'हिटलर वीच' के लिए जर्मनी की वियना मोलिना को दिया गया। इसी तरह, स्पेन के फ़िल्मकार ए रोजस को उनकी फ़िल्म 'अपान एंट्री' और बांग्लादेश की फ़िल्म 'द गोल्डन विंग्स ऑफ वाटरकाक्स' को दिया गया। बांग्लादेश के निर्देशक मोहम्मद कयूम ने यह पुरस्कार ग्रहण किया। सभी को 'गोल्डन रायल बंगाल टाइगर' पुरस्कार से नवाज़ा गया। हृषिकेश मुखर्जी की फ़िल्म 'अभिमान' से शुरू हुए इस 28वें कोलकाता अन्तरराष्ट्रीय फ़िल्मोत्सव का समापन रंगारंग सांस्कृतिक कार्यक्रम के साथ हुआ, जिसमें बंगाल और विदेश के बड़े निर्देशक उपस्थित थे। 'मास्टर क्लास' के तहत दक्षिण के मशहूर निर्देशक शाज़ी एन करुण को सुनना भी दिलचस्प था। -**जयनारायण प्रसाद**

कोलकाता अन्तरराष्ट्रीय फ़िल्मोत्सव

कृति-संस्कृति

भाव यात्राओं का सुख

शहजाद कुरैशी

हिन्दी की गद्य विधाओं में 'संस्मरण' का रचनात्मक रूप 'सुधियों के अमलतास' में श्रीराम परिहार ने प्रस्तुत किया है। ये लेखक के सम्पर्क, संसर्ग, स्मृतियों, उनकी रचनायात्रा के 31 सहयात्रियों के माध्यम से चित्रांकन हैं।

मेरा यह मानना है कि यह या तो संस्मरण विधा का विस्तार है अथवा नयी विधा का प्रारम्भिक रूप है। परिहार मूलत: ललित निबन्धकार हैं। उनकी इसी भावभूमि में जो साहित्यकार, चिन्तक, कलाकार, मनीषी सम्पर्क में समाहित हैं वे उनके निजी क्षणों की देन है। इस पूरी प्रक्रिया में परिहार जी निर्गुण से सगुण की यात्रा करते हैं, निराकार को साकार में रूपान्तरित करते हुए भावांजलि अर्पित करते हैं। उन्हीं के शब्दों में- ''मनसा वाचा कर्मणा को जीवन में सर्वोपरि स्थान देकर उसे मानव संस्कृति में भी महत्वपूर्ण स्थान दिया। उसी पथ पर चलते हुए स्वामी शिव ओम भारती जी संतत्व की उस ऊँचाई पर हैं, जहाँ से मानव मात्र, जीवमात्र प्रकृति मात्र और सृष्टि मात्र से सम्बल और आस्था का प्रकाश मिलता है, विश्वास का बल मिलता है, निरंतर गतिशील रहने की ऊर्जा मिलती हैं। जीवन में कार्य करने की प्रेरणा मिलती है।''

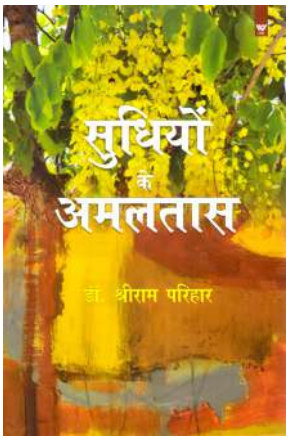

'सुधियों के अमलतास' में आचार्य विद्यानिवास मिश्र, आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी, कुबेरनाथ राय, पं. रामनारायण उपाध्याय, बुद्धिनाथ मिश्र, मु.ब. शाह, कैलाश पन्त, अमृतलाल बेगड़, जगन्नाथ प्रसाद चौबे 'वनमाली', प्रभाकर श्रोत्रिय, श्याम सुन्दर दुबे, बाबूलाल सेन आदि उल्लेखनीय हैं।

पुस्तक के प्रत्येक निबन्ध लेख की अपनी मौलिक पहचान है। यही कारण है कि उनके प्रथम आलेख जो 'स्वामी शिवओम भारती' पर केन्द्रित है, का शीर्षक मैं 'सन्यासी का गृहस्थाश्रम' देना चाहूँगा। कारण यह कि मैं भी पचीसों बार शिव कोठी (ओंकारेश्वर) के एक रोटी आश्रम में गया। परिहार जी और स्वामी जी के साथ भोजन प्रसादी ग्रहण की। स्वामी जी का सदावर्त एक रोटी महादान के अन्तर्गत प्रतिदिन चलने वाला भोजन कार्यक्रम देखा। गोशाला में गो सेवा और नर्मदा भवन में वृक्षाश्रम भी देखा। स्वामी जी की यही गृहस्थी है। आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री पर केन्द्रित एक आलेख में परिहार लिखते हैं-''विष्णुकान्त शास्त्री जी के यात्रा लेखों को पढ़ना अनुभव के कुँवारेपन को छू लेने जैसा है। आचार्य विद्यानिवास मिश्र के स्मरण में कहते हैं- ''उनके समग्र साहित्य चिन्तन को लेखक बीज से महावृक्ष, बूँद से समुद्र बनने की निर्माण प्रक्रियों के रूप में देखता है।''

पुस्तक में संग्रहित 31 निबन्धात्मक आलेख 31 भावमयी यात्राएँ हैं जो लेखक के आर्द्र मन की तरंगों से अठखेलियाँ करते हुए शब्दों की टकसाल में सिक्कों के समान ढल जाती हैं। परिहार जी का ललित निबन्धकार मन भावावेश में अपनी सीमा लाँघकर मुक्त हिरण के समान कुलाँचे भरने लगता है। लगता है जैसे वह लिखते-लिखते परकाया प्रवेश कर लेते हैं और इस तथ्य से सर्वथा अनभिज्ञ कि कोई इन निबन्धालेखों

सौग़ात

- **इतिहास के पन्नों पर कलाओं के नक़्श**
  लेखक- निर्मला डोसी
  मूल्य- 850/- रु.
  प्रकाशक- राधा पब्लिकेशन, नई दिल्ली
  सम्पर्क- 859535240
- **धूप का छोर (दोहा संग्रह)**
  लेखक- सीमा पांडे मिश्रा 'सुशी'
  मूल्य- 200/- रु.
  प्रकाशक- शिवना प्रकाशन, सीहोर
  सम्पर्क- 9806162184
- **स्वेद की छेनी, श्रम का हथौड़ा**
  लेखक- निर्मला डोसी
  मूल्य- 600/- रु.
  प्रकाशक- राधा पब्लिकेशन, नई दिल्ली
  सम्पर्क- 859535240
- **कारावास (कविता संग्रह)**
  लेखक- सुधीर मोता
  मूल्य- 200/- रु.
  प्रकाशक- लोकोदय प्रकाशन प्रा. लि.
  सम्पर्क- 9303138889
- **लोक कलाओं के रंग कलाकारों के संग**
  लेखक- निर्मला डोसी
  मूल्य- 650/- रु.
  प्रकाशक- राधा पब्लिकेशन, नई दिल्ली
  सम्पर्क- 859535240
- **लम्हा लम्हा जी लेते हैं (कविता संग्रह)**
  कवि- पाँखुरी वक़्त जोशी
  मूल्य- 200/- रु.
  प्रकाशक- ऋषि मुनि प्रकाशन, उज्जैन
- **बघेली लिखपट (बघेली गद्य संग्रह)**
  लेखक- अरुण कुमार पयासी
  मूल्य- 100/- रु.
  प्रकाशक- युगधारा फाउंडेशन एवं प्रकाशन, लखनऊ
  सम्पर्क- 8765806208
- **मौन का संवाद (ग़ज़ल- संग्रह)**
  लेखक- दीपक पंडित
  प्रकाशक- सन्दर्भ प्रकाशन भोपाल
  सम्पर्क- 9179413444
- **सुन्दरलाल प्रजापति की शायरी**
  सम्पादक- सुन्दरलाल प्रजापति
  प्रकाशक- सन्दर्भ प्रकाशन भोपाल
  सम्पर्क- 9826586182

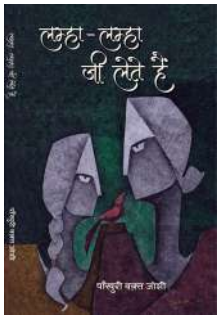

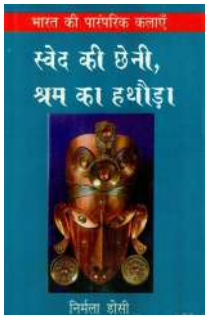

को पढ़ भी रहा है। प्रतीकात्मक अर्थ में 'सुधियों के अमलतास' संग्रह का मन्तव्य ही यह है कि जब भी इन साहित्यकारों, कवियों, लेखकों, मनीषियों का स्मरण होता है रचनाकार आनन्द रस में डूब कर अमलतास की भाँति पुष्प-पुष्प खिल उठता है।

यहाँ बुद्धिनाथ मिश्र गीत की देह धारित प्रतीत होते हैं जिसमें प्रकृति स्वयं सम्वाद करती है। इसके अतिरिक्त व्यक्ति भी संस्था भी (कैलाश पन्त), नये युग का नवगान (वीरेन्द्र मिश्र), निर्भीक सरसता (नारायण शर्मा) संस्कार पुरुष (भाई हेमचन्द वैद्य), दम्भहीन लेखक आम्र वृक्ष की छाया (श्रीधर पराड़कर) ऐसे अनेक व्यक्तित्व हैं जो भाँति-भाँति से लेखक को सम्पन्न करते हैं। आत्म सुख को शब्दों में संयोजित कर जो वितान परिहार जी रचते हैं उसी का नाम ''सुधियों के अमलतास'' है।

- kureshi.shahzad@gmail.com

गुरुदेव का जीवन वृत्त

नियोगी बुक्स द्वारा प्रकाशित यह किताब तत्कालीन सन्दर्भों में रबीन्द्रनाथ टैगोर के योगदान को कालक्रम के अनुसार प्रस्तुत करते हुए उन महत्वपूर्ण घटनाओं, चर्चाओं और उपेक्षित मुद्दों को भी प्रकाश में लाती है, जिनसे टैगोर को बेहतर तरीक़े से समझ पाने में मदद मिलती है। इसे पढ़ते हुए गुरुदेव की बहुमुखी प्रतिभा के बारे में और ज़्यादा जानने की उत्सुकता बढ़ने लगती है।

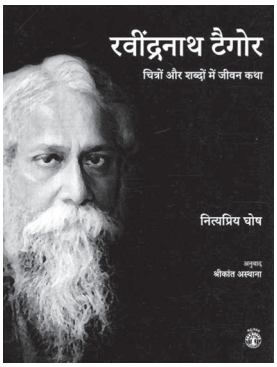

एक पुत्र, भाई, पति और पिता के रूप में उनकी भूमिका सराहनीय रही। कवि, लेखक, दार्शनिक, चित्रकार, नृत्य-संयोजक और अभिनेता के रूप में उनकी उपलब्धियाँ चरमोत्कर्ष पर रहीं। परिवार, मित्रों, समकालीन लेखकों, कवियों तथा अपने पूर्ववर्तियों से उनके सम्बन्ध भी ठीकठाक रहे। देश-विदेश के समकालीन नेताओं से उनका पत्र-व्यवहार और जीवन के बारे में उनकी सोच एवं अभिव्यक्तियाँ सटीक रहीं। इस तरह प्रेम, विश्वास, समर्पण, उनके अधूरे सपनों और अपेक्षाओं आदि को बहुत रोचक तरीक़े से प्रस्तुत करते हुए यह पुस्तक कवि के दोनों पक्षों—असाधारण योग्यता-सम्पन्न व्यक्ति और सामान्य इच्छाओं वाला व्यक्ति को सामने लाती है, जो इस गुण के कारण अपनी लाभ-हानि की परवाह किए बिना सामान्य लोगों के सुखों और दुखों को समझ सकता था। यही वह कारण है कि टैगोर जाति, सिद्धान्त या पंथ की सीमाओं के पार, आज भी हम सबको प्रिय हैं।

नित्यप्रिय घोष द्वारा लिखित एवं श्रीकान्त अस्थाना द्वारा अनुवादित यह किताब रबीन्द्रनाथ टैगोर के अमूल्य जीवन और विशिष्ट साहित्य के क्षेत्र में उनके योगदान पर प्रकाश डालती है। विभिन्न चित्र और बड़े पैमाने पर शोध किए गए ग्रंथ उन घटनाओं, उपाख्यानों और उन मुद्दों को उजागर करते हैं जो पाठकों को शायद ही कभी ज्ञात हो। गुरुदेव के जीवन के विभिन्न पक्षों से गुज़रते हुए विश्व मानवता के लिए उनका महान चिन्तन हमें सौहार्द, समरसता और बन्धुता के उस विराट भाव बोध की ओर ले जाता है जिसकी ज़रूरत हमेशा से रही है। उनका जीवन और कृतित्व इस तथ्य को भी बख़ूबी उद्घाटित करता है कि प्रकृति और प्रेम के बिना मनुष्य का उत्कर्ष सम्भव नहीं है।

इस किताब में 160 से भी अधिक दुर्लभ एवं अनूठे चित्र समावेशित हैं। किताब अमेजन और नियोगी बुक्स की वेबसाईट पर उपलब्ध है।

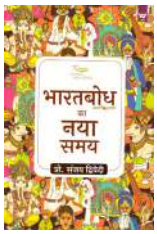

- **बिन गाए गीत**
  सम्पादक- नर्मदा प्रसाद उपाध्याय
  प्रकाशक- विद्या विहार नई दिल्ली

- **सिद्धे गुरु**
  सम्पादक- सिद्धेश्वर अवस्थी
  प्रकाशक- मुनिया फाउंडेशन
  सम्पर्क- sumukhm19@gmail.com

- **दूसरे किनारे की यात्रा (कविता संग्रह)**
  कवि- पंकज पाठक
  मूल्य- 150/- रु.
  प्रकाश- पहले पहल प्रकाशन, भोपाल

- **स्मृति एक दूसरा समय है (कविता संग्रह)**
  कवि- मंगलेश डबराल
  मूल्य- 125/- रु.
  प्रकाशक- सेतू प्रकाशन, दिल्ली
  सम्पर्क- setuprakashan@gmail.com

- **पलभर की पहचान**
  लेखक- सच्चिदानंद जोशी
  मूल्य- 175/- रु.
  प्रकाशक- प्रभात पेपरबैक्स, नई दिल्ली
  सम्पर्क- 7827007777

- **भारतबोध का नया समय**
  लेखक- प्रो. संजय द्विवेदी
  मूल्य- 750/- रु.
  प्रकाशक- यश पब्लिकेशन, दिल्ली
  सम्पर्क- 9699483887

- **जो कहूँगा सच कहूँगा**
  सम्पादक- डॉ. सौरभ मालवीय, लोकेन्द्र सिंह
  मूल्य- 500/- रु.
  प्रकाशक- यश पब्लिकेशन, दिल्ली
  सम्पर्क- 9599483887

- **समुद्र से लौटेंगे रेत के घर**
  कवि- अमेय कान्त
  मूल्य- 225/- रु.
  प्रकाशक- अंतिका प्रकाशन, गाज़ियाबाद
  सम्पर्क- 9871856053

- **लाइव्स (आत्मकथा)**
  लेखक- डॉ. हरिसिंह गौर
  अनुवाद- राकेश श्रीवास्तव
  मूल्य- 225/- रु.
  प्रकाशक- विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर
  सम्पर्क- 7582243598

- **जाग उठे मन के रिश्ते**
  लेखक- युगेश शर्मा
  मूल्य- 300/- रु.
  प्रकाशक- पहले-पहल प्रकाशन, भोपाल
  सम्पर्क- 0755-2555789

जहाँ हर पृष्ठ सांस्कृतिक दस्तावेज़ है

फेडरेशन ऑफ इंडियन पब्लिशर्स, दिल्ली द्वारा पुरस्कृत

'रंग संवाद' की सदस्यता

प्रति अंक – 125/– रू.
वार्षिक – 4 अंक, 500/– रू.
त्रैवार्षिक – 12 अंक, 1500/– रू.
(सभी कीमतें रजिस्टर्ड डाक खर्च सहित)

बैंक खाता विवरण –
खाता क्रमांक – 37730954601
IFSC कोड – SBIN0003867
शाखा – एसबीआई, महावीर नगर भोपाल

सहयोग राशि जमा करने के बाद अपनी जानकारी 9074767948 पर व्हाट्सएप कर दें

ई–मेल : vinay.srujan@gmail.com • tagorekalabpl@gmail.com

आईसेक्ट पब्लिकेशन

फेडरेशन ऑफ इंडियन पब्लिशर्स, नई दिल्ली द्वारा
एक्सेलेंस इन बुक प्रोडक्शन के
6 पुरस्कारों से सम्मानित प्रकाशन

ज्ञान-विज्ञान, कौशल विकास तथा
कला-साहित्य पर हिंदी, अंग्रेजी एवं
अन्य भाषाओं में पुस्तकों और पत्रिकाओं का राष्ट्रीय प्रकाशन

स्व-प्रकाशन योजना

हिंदी भाषा, साहित्य एवं विज्ञान की विभिन्न विधाओं में पुस्तकों के प्रकाशन में आने वाली कठिनाइयों को देखते हुए आईसेक्ट पब्लिकेशन, भोपाल ने लेखकों के लिए स्व-प्रकाशन योजना एक अनूठे उपक्रम के रूप में शुरू की है।

जिन रचनाकारों को अपनी मौलिक, अनूदित, संपादित रचनाओं का पुस्तक रूप में प्रकाशन करवाना है, पांडुलिपि की सॉफ्ट कॉपी के साथ आईसेक्ट पब्लिकेशन, भोपाल से संपर्क करें।

आईसेक्ट पब्लिकेशन से पुस्तक प्रकाशन के लाभ ही लाभ

- प्रकाशित पुस्तक आईसेक्ट पब्लिकेशन की पुस्तक सूची में शामिल की जायेगी।
- पुस्तक, बिक्री के लिये सुप्रसिद्ध स्टॉलों एवं मेलों आदि में उपलब्ध रहेगी।
- प्रकाशित पुस्तक की समीक्षा सुप्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कराने का प्रयत्न किया जायेगा।
- प्रकाशित पुस्तक, शहरों व कस्बों में स्थापित वनमाली सृजनपीठ के सृजन केन्द्रों में पठन-पाठन और चर्चा के लिए भिजवाई जायेगी।
- पुस्तक के लोकार्पण और साहित्यिक मंच पर संवाद-चर्चा आदि की व्यवस्था की जा सकेगी।
- पुस्तक चयनित ई-पोर्टल (अमेज़न, आईसेक्ट ऑनलॉइन आदि) पर भी बिक्री के लिये प्रदर्शित की जायेगी।

विशेष : शोध पर आधारित पुस्तकों के प्रकाशन में अग्रणी संस्थान
(विश्वविद्यालयों के फैकल्टी एवं छात्रों के लिये विशेष स्कीम)

सुरुचिपूर्ण फोर कलर प्रिंटिंग ● आकर्षक गेटअप ● नयनाभिराम पेपर बैक में

कुल बिक्री के आधार पर वर्ष में एक बार नियमानुसार रॉयल्टी भी

पांडुलिपि किसी भी विधा में स्वीकार

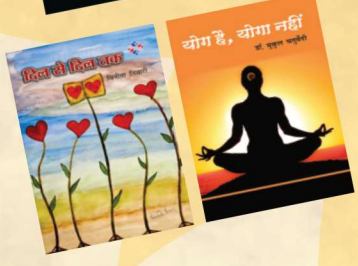

आप स्वयं पधारें या संपर्क करें

- प्रकाशन अधिकारी, आईसेक्ट पब्लिकेशन : मो.+91-8818883165
- अधयक्ष, वनमाली सृजनपीठ : मो.+91-9425014166
  22/ ई-7, अरेरा कॉलोनी, भोपाल-16 फोन- 0755-2423806
- E-mail : mahip@aisect.org, aisectpublications@aisect.org

अन्तरंग

• श्याम सुन्दर दुबे • नर्मदाप्रसाद उपाध्याय • अशोक भौमिक • निर्मला डोसी • नरेन्द्र नागदेव
• राजेश कुमार व्यास • अलोक चटर्जी • शंपा शाह • राजेश गनोदवाले • स्वरांगी साने
• अनुलता राज नायर • स्नेहा कामरा • शाम्भवी शुक्ला मिश्रा • मुकेश गर्ग • शहजाद कुरैशी
• विवेक सावरीकर मृदुल • सुदीप सोहनी • आलोक सेठी • संजय सिंह राठौर
• पाँखुरी वक़्त जोशी • लोकमित्र गौतम • हरीश चन्द्र पाण्डेय

TAGORE INTERNATIONAL
LITERATURE & ARTS FESTIVAL
विश्व रंग

भारतीय संस्कृति, वैश्विक मंच!